॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

1247

मेरे तो गिरधर गोपाल

स्वामी रामसुखदास

विषय–सूची

॥ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

नम्र निवेदन

भगवत्प्रेमको मोक्षसे भी ऊँचा माना गया है। उसे प्राप्त करनेका मुख्य उपाय सन्तोंने बताया है—भगवान्‌को अपना मानना। मीराबाईने इसी उपायको अपनाया था। *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*—यही मीराबाईकी एकमात्र साधना थी।

प्रस्तुत पुस्तकमें परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके *'मेरे तो गिरधर गोपाल'* आदि बारह लेखोंका अनूठा संग्रह है। भगवत्प्रेमी साधकोंके लिये ये लेख बहुत उपयोगी एवं सुगमतापूर्वक परमात्मप्राप्ति करानेमें विशेष सहायक हैं। पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि वे इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ें, समझें और लाभ उठायें।

—**प्रकाशक**

॥ श्रीहरिः॥

१. मेरे तो गिरधर गोपाल

मानवशरीर भगवान्‌की कृपासे मिला है और केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिये मिला है। इसलिये सब काम छोड़कर भगवान्‌में लग जाना चाहिये। जिनकी उम्र ज्यादा हो गयी है, उनको तो भगवान्‌में लगना ही है, जिनकी उम्र छोटी है, उनको भी सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लगना है। संसारका सब काम कर देना है, पर अपना असली ध्येय, लक्ष्य, उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति ही रखना है।

वास्तवमें सत्ता एक परमात्माकी ही है। संसारकी तरफ आप ध्यान दें तो यह सब मिटनेवाला है और निरन्तर मिट रहा है। आप अपनी तरफ देखें कि जब आप अपनी माँके पेटसे पैदा हुए, उस समय शरीरकी कैसी अवस्था थी और आज कैसी अवस्था है। संसार निरन्तर बदलनेवाला है और परमात्मा निरन्तर रहनेवाले हैं। संसार रहनेवाला है ही नहीं और परमात्मा बदलनेवाले हैं ही नहीं। वे परमात्मा हमारे हैं और हम परमात्माके हैं—इसमें दृढ़ता होनी चाहिये। जैसे छोटा बालक कहता है कि माँ मेरी है। उससे कोई पूछे कि माँ तेरी क्यों है, तो इसका उत्तर उसके पास नहीं है। उसके मनमें यह शंका ही पैदा नहीं होती कि माँ मेरी क्यों है? माँ मेरी है, बस, इसमें उसको कोई सन्देह नहीं होता। इसी तरह आप भी सन्देह मत करो और यह बात दृढ़तासे मान लो कि भगवान् मेरे हैं। भगवान्‌के सिवाय और कोई मेरा नहीं है; क्योंकि वह सब छूटनेवाला है। जिनके प्रति आप बहुत सावधान

रहते हैं, वे रुपये, जमीन, मकान आदि सब छूट जायँगे। उनकी यादतक नहीं रहेगी। अगर याद रहनेकी रीति हो तो बतायें कि इस जन्मसे पहले आप कहाँ थे? आपके माँ-बाप, स्त्री-पुत्र कौन थे? आपका घर कौन-सा था? जैसे पहले जन्मकी याद नहीं है, ऐसे ही इस जन्मकी भी याद नहीं रहेगी। जिसकी यादतक नहीं रहेगी, उसके लिये आप अकारण परेशान हो रहे हो! यह सबके अनुभवकी बात है कि हमारा कोई नहीं है। सब मिले हैं और बिछुड़ जायँगे। इसलिये ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***— ऐसा मानकर मस्त हो जाओ। संसारका काम बिगड़ रहा है तो बिगड़ने दो। वह तो बिगड़नेवाला ही है। सुधर जाय तो भी बिगड़ेगा। उसकी चिन्ता मत करो। आरम्भमें थोड़ा-सा बिगड़ेगा, परन्तु पीछे बहुत बढ़िया हो जायगा। दुनिया सब-की-सब चली जाय तो परवाह नहीं है। मैं और भगवान्—इन दोके सिवाय और कोई नहीं है। मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् मेरे हैं—इसके सिवाय और किसी बातकी तरफ देखो ही मत, विचार ही मत करो।

एक परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण हैं। उनके सिवाय और कोई है नहीं, कोई हुआ नहीं, कोई होगा नहीं, कोई हो सकता नहीं। वे परमात्मा ही मेरे हैं—ऐसा मानकर मस्त हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ। हम अच्छे हैं कि मन्दे हैं, इसकी फिक्र मत करो। जैसे भरतजी महाराज चित्रकूट जाते हुए माँ कैकेयीकी तरफ देखते हैं तो उनके पैर पीछे पड़ते हैं, और अपनी तरफ देखते हैं तो खड़े रहते हैं, पर जब रघुनाथजी महाराजकी तरफ देखते हैं तो दौड़ पड़ते हैं—

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥

(मानस, अयोध्या० २३४। ३)

ऐसे ही आप अपनी करनीकी तरफ मत देखो, अपने पापोंकी तरफ मत देखो, केवल भगवान्‌की तरफ देखो। जैसे विदुरानी भगवान्‌को छिलका देती हैं तो भगवान् छिलका ही खाते हैं। छिलका खानेमें भगवान्‌को जो आनन्द आता है, वैसा आनन्द गिरी खानेमें नहीं आता। कारण कि विदुरानीके मनमें यह भाव है कि भगवान् मेरे हैं। जैसे बच्चेको भूखा देखकर माँ जिस भावसे उसको खिलाती है, उससे भी विशेष भाव विदुरानीमें है। ऐसे ही आप भगवान्‌को अपना मान लो। जीने-मरने आदि किसीकी भी परवाह मत करो। किसीसे डरो मत। किसीकी भी गर्ज करनेकी जरूरत नहीं। बस, एक ही विचार रखो कि *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*। अगर यह विचार कर लोगे तो निहाल हो जाओगे। परन्तु बहुत धन कमा लो, बहुत सैर-शौकीनी कर लो, बहुत मान-बड़ाई प्राप्त कर लो तो यह सब कुछ काम नहीं आयेगा—

सपना-सा हो जावसी, सुत कुटुम्ब धन धाम,
हो सचेत बलदेव नींदसे, जप ईश्वरका नाम।
मनुष्य तन फिर फिर नहिं होई,
किया शुभ कर्म नहीं कोई,
उम्र सब गफलतमें खोई।

अब आजसे भगवान्‌के होकर रहो। कोई क्या कर रहा है, भगवान् जानें। हमें मतलब नहीं है। सब संसार नाराज हो जाय तो परवाह नहीं, पर भगवान् मेरे हैं—इस बातको छोड़ो मत। मीराबाईको जँच गयी कि अब मैं भगवान्‌से दूर होकर नहीं रह सकती— *'मिल बिछुड़न मत कीजै'* तो उनका डेढ़-दो मनका थैला शरीर भी नहीं मिला, भगवान्‌में समा गया! एक ठाकुरजीके

सिवाय किसीसे कोई मतलब नहीं है।

अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते।

(विनय० १९८)

अन्तमें तुझे सब छोड़ देंगे, कोई तुम्हारा नहीं रहेगा तो फिर पहलेसे ही छोड़ दे।

साधु विचारकर भली समझ्या, दिवी जगत को पूठ।
पीछे देखी बिगड़ती, पहले बैठा रूठ॥

पीछे तो सब बिगड़ेगी ही, फिर अपना काम बिगाड़कर बात बिगड़े तो क्या लाभ? अपने तो अभी-अभी भगवान्‌के हो जाओ। तुम तुम्हारे, हम हमारे। हमारा कोई नहीं, हम किसीके नहीं, केवल भगवान् हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं। भगवान्‌के चरणोंकी शरण होकर मस्त हो जाओ। कौन राजी है, कौन नाराज; कौन मेरा है, कौन पराया, इसकी परवाह मत करो। वे निन्दा करें या प्रशंसा करें; तिरस्कार करें या सत्कार करें, उनकी मरजी। हमें निन्दा-प्रशंसा, तिरस्कार-सत्कारसे कोई मतलब नहीं। सब राजी हो जायँ तो हमें क्या मतलब और सब नाराज हो जायँ तो हमें क्या मतलब?

केवल एक भगवान् मेरे हैं—इससे बढ़कर न यज्ञ है, न तप है, न दान है, न तीर्थ है, न विद्या है, न कोई बढ़िया बात है। इसलिये भगवान्‌को अपना मानते हुए हरदम प्रसन्न रहो। न जीनेकी इच्छा हो, न मरनेकी इच्छा हो। न जानेकी इच्छा हो, न रहनेकी इच्छा हो। एक भगवान्‌से मतलब हो। एक भगवान्‌के सिवाय मेरा और कोई है ही नहीं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश जितनी अथवा तिनके जितनी चीज भी अपनी नहीं है। हमारा कुछ है ही नहीं, हमारा कुछ था ही नहीं, हमारा कुछ होगा ही नहीं, हमारा कुछ

हो सकता ही नहीं। इसलिये एक भगवान्‌को अपना मान लो तो निहाल हो जाओगे। भगवान्‌के सिवाय किसीसे स्वप्नमें भी मतलब नहीं। किसीकी गुलामी करनेकी जरूरत नहीं। हमें किसीसे क्या लेना है और क्या देना है! हमारे जो सम्बन्धी हैं, उनका कितने दिनका साथ है! *'सपना-सा हो जावसी, सुत कुटुंब धन धाम'*! स्वप्न तो याद रहता है, पर उनकी याद भी नहीं रहेगी। जैसे स्वप्नको नापसन्द कर देते हो तो उसको भूल जाते हो, ऐसे ही संसारको नापसन्द कर दो तो उसको भूल जाओगे। संसारमें यह आदमी ठीक है, यह बेठीक है; ऐसा हो जाय, ऐसा नहीं हो— यह केवल मोह है। मोह सम्पूर्ण व्याधियोंका मूल है— *'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला'* (मानस, उत्तर० १२१। १५)। ठीक हो या बेठीक, हमें क्या मतलब? दूसरे ही हमारी गरज करेंगे, हमें किसीकी क्या गरज? संसारके आदमियोंसे हमें क्या मतलब? बस, एक ही बात याद रखो— *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*।

प्यास लगे तो पानी पी लिया, भूख लगे तो रोटी खा ली, ठण्ड लगे तो कपड़ा ओढ़ लिया, नहीं मिले तो नहीं सही! शरीर जाय तो अच्छी बात, रहे तो अच्छी बात, अपना कोई मतलब नहीं। न शरीरके रहनेसे कोई मतलब, न शरीर जानेसे कोई मतलब। हमारा मतलब केवल भगवान्‌से है। केवल भगवान् हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं—ऐसा सोचकर मस्त हो जाओ, आनन्दमें हो जाओ, नाच उठो कि आज हमें पता चल गया, आज तो मौज हो गयी! अब हम किसीकी गुलामी नहीं करेंगे।

ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब जगह एक परमात्मा ही हैं—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

(गीता १३। १५)

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

(महानारायणोपनिषद् ११। ६)

वह परमात्मा नजदीक-से-नजदीक है, दूर-से-दूर है, बाहर-से-बाहर है, भीतर-से-भीतर है। एक परमात्मा-ही-परमात्मा है और वह अपना है—ऐसा सोचकर मस्त हो जाओ। कोई आये तो परमात्मा है, कोई जाय तो परमात्मा है। कोई प्रेम करे तो परमात्मा है, कोई वैर करे तो परमात्मा है। कोई कुछ करे, परमात्मा-ही-परमात्मा है। उस परमात्माको पुकारो कि 'हे नाथ! हे मेरे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं।' आपका जन्म सफल हो जायगा! यह कितनी बढ़िया बात है! कितनी ऊँची बात है! कितनी सच्ची बात है! कितनी निर्मल बात है! कोई क्या करता है, यह आप मत देखो। हमें उससे क्या मतलब है?

तेरे भावै कछु करौ, भलो बुरो संसार।
'नारायन' तू बैठि के, अपनौ भवन बुहार॥

हमारा मतलब केवल भगवान्‌से है। हम अच्छे हैं तो उनके हैं, बुरे हैं तो उनके हैं—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हैं हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे॥

(सूरविनय० २३६)

संसारमें तो एक तिनका भी हमारा नहीं रहेगा, नहीं रहेगा, नहीं रहेगा। अपना है ही नहीं तो कैसे रहेगा? संसारका प्रतिक्षण आपसे वियोग हो रहा है। जन्म लेनेके बाद जितने वर्ष बीत गये,

उतने वर्ष तो आप मर ही गये और बाकी जो दिन बचे हैं, वे भी जानेवाले हैं। एक भगवान्‌के सिवाय अपना कुछ नहीं है। इसलिये भगवान्‌को पुकारो कि हे प्रभो! हे मेरे प्रभो! मेरा कोई नहीं है, केवल आप ही मेरे हो, और कोई मेरा नहीं है। फिर मौज हो जायगी, आनन्द हो जायगा! मेरे तो भगवान् हैं—इस बातको लेकर नाचने लग जाओ, कूदने लग जाओ कि आज हमारा काम हो गया! सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दो। स्वप्नमें भी किसीकी गुलामी मत करो। हृदयसे गुलामी निकाल दो। नाचने लग जाओ कि बस, आज तो हम निहाल हो गये! कोई पूछे कि अरे! क्या मिल गया? तो कहो कि जो मिलना चाहिये था, वह मिल गया! वह परमात्मा स्वतः सबको मिला हुआ है, सबके भीतर विराजमान है। वह हमारा अपना है। और किसीसे हमें कोई गरज नहीं, किसीकी आवश्यकता नहीं, किसीकी परवाह नहीं। कोई राजी रहे तो मौज, नाराज हो जाय तो मौज! हम किसीको दुःख नहीं देते, किसीके विरुद्ध कुछ करते नहीं, स्वप्नमें भी किसीका अहित नहीं चाहते, फिर कोई राजी रहे या नाराज, यह उसकी मरजी। हमारा किसीसे कोई मतलब नहीं।

भगवान् मेरे हैं—इसके समान कोई बात है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इस बातका हमें पता लग गया तो अब मौज हो गयी! इतने दिन दूसरोंकी गुलामी करके मुफ्तमें दुःख पाया। अब हम सबको प्रणाम करते हैं! सभी श्रेष्ठ हैं, पर हमें उनसे मतलब नहीं। हमें केवल भगवान्‌से ही मतलब है। परन्तु भगवान्‌से भी हमें कुछ लेना नहीं है, कोई गरज नहीं करनी है।

दूँढ़ा सब जहां में, पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा, अब पता मेरा नहीं॥

वास्तवमें मैं है ही नहीं, केवल तू-ही-तू है। छोटा-बड़ा, अच्छा-मन्दा सब तू-ही-तू है। अब हमें असली चीज मिल गयी! आज पता लग गया कि तू ही है, मैं हूँ ही नहीं! न मैं है, न मेरा है। केवल तू है और तेरा है। अब आनन्द-ही-आनन्द है! पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, सम आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, बाहर आनन्द, भीतर आनन्द, केवल आनन्द-ही-आनन्द!

२. कामना, जिज्ञासा और लालसा

मनुष्यके भीतर जो इच्छा रहती है, उसके तीन भेद हैं—कामना, जिज्ञासा और लालसा। सांसारिक भोग और संग्रहकी 'कामना' होती है, स्वरूप (निर्गुण तत्त्व)-की 'जिज्ञासा' होती है और भगवान् (सगुण तत्त्व)-की 'लालसा' होती है।

संसारकी जो कामना है, वह भूलसे पैदा हुई है। कारण कि हमारेमें एक तो परमात्माका अंश है और एक प्रकृतिका अंश है। परमात्माका अंश जीवात्मा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' और प्रकृतिका अंश शरीर है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५। ७)। मैं क्या हूँ? —इस प्रकार स्वरूप (जीवात्मा)-को जाननेकी इच्छा 'जिज्ञासा' है और भगवान् कैसे मिलें? उनमें प्रेम कैसे हो?—इस प्रकार भगवान्को पानेकी इच्छा 'लालसा' है। जिज्ञासा और लालसा—ये दोनों इच्छाएँ अपनी हैं, पर कामना अपनी नहीं है। कारण कि जिज्ञासा और लालसा सत्-तत्त्वकी होती है, पर कामना असत्की होती है।

कामनाएँ शरीरको लेकर होती हैं। बहुत-से भाई-बहन शरीरको मुख्य मानते हैं। पर वास्तवमें शरीर मुख्य नहीं है, प्रत्युत जो शरीरमें अपना रहना मानता है, वह शरीरी मुख्य है। शरीर तो कपड़ेकी तरह है। जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े पहन लेता है, ऐसे ही वह (शरीरी) पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीर धारण कर लेता है*। शरीर हरदम

---

* **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २। २२)

बदलता है। इसलिये शरीरको लेकर जो कामनाएँ होती हैं, वे अपनी नहीं हैं।

शरीर-संसारकी इच्छाके कई नाम हैं; जैसे—कामना, आशा, वासना, तृष्णा आदि। अमुक वस्तु मिल जाय, धन मिल जाय, भोग मिल जाय, कुटुम्ब मिल जाय, घर मिल जाय—ये सब इच्छाएँ सच्ची नहीं हैं। ये इच्छाएँ सभी योनियोंमें होती हैं। मनुष्यकी इच्छाएँ और होती हैं, कुत्तेकी इच्छाएँ और होती हैं, सिंहकी इच्छाएँ और होती हैं। ऐसे ही गाय-भैंस, भेड़-बकरी, गधा, ऊँट आदिकी अलग-अलग इच्छाएँ होती हैं। तात्पर्य है कि शरीर भी बदलते रहते हैं और इच्छाएँ भी बदलती रहती हैं। वृक्षोंको खाद तथा पानीकी इच्छा होती है। ये मिलें तो वृक्ष हरे हो जाते हैं। ये न मिलें तो वे सूख जाते हैं। परन्तु जिज्ञासा और लालसा—ये दो इच्छाएँ केवल मनुष्यशरीरमें ही होती हैं, अन्य शरीरोंमें नहीं होतीं। कारण कि अन्य शरीर भोगयोनियाँ हैं। उनमें केवल भोगनेकी इच्छा है।

जिज्ञासा और लालसा असुरों-राक्षसोंमें नहीं होती, भूत-प्रेत-पिशाचमें नहीं होती। यह देवताओंमें हो सकती है, पर उनमें भी भोग भोगनेकी इच्छा मुख्य रहती है। जैसे—मनुष्यलोकमें ज्यादा धनी लोगोंमें भोग भोगनेकी और धनका संग्रह करनेकी इच्छा मुख्य रहती है तो वे भगवान्‌में नहीं लगते। कलकत्तेके एक धनी आदमीसे मैंने पूछा कि तुम्हारे पास इतने रुपये हैं कि कई पीढ़ियोंतक जीवन-निर्वाह हो जाय, फिर और रुपये कमाकर क्या करोगे? उसने बड़ी सज्जनतासे उत्तर दिया कि 'स्वामीजी! इसका उत्तर हमारे पास नहीं है।' केवल एक ही धुन है—धन कमाओ, धन कमाओ। उस धनका करेंगे क्या—इस तरफ खयाल नहीं है। पूरा धन भोग तो सकते नहीं; अतः छोड़कर मरना पड़ेगा।

केवल भोगोंकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य कहलानेयोग्य नहीं हैं। मनुष्य कहलानेयोग्य वही हैं, जिनमें अपने स्वरूपकी जिज्ञासा और परमात्माकी लालसा है। अपने स्वरूपको जाननेकी और परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छा मनुष्यमें ही हो सकती है। यह सामर्थ्य मनुष्यमें ही है। परन्तु इसको छोड़कर जो भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, उनमें मनुष्यपना नहीं है, प्रत्युत पशुपना है। भागवतमें इसको पशुबुद्धि कहा गया है—'**पशुबुद्धिमिमां जहि**' (१२। ५। २)। मैं कौन हूँ? मेरा मालिक कौन है?—यह जाननेकी इच्छा मनुष्यबुद्धि है।

इस दुनियामें एक अँधेरा, सबकी आँख में जो छाया।
जिसके कारण सूझ पड़े नहीं, कौन हूँ मैं कहाँ से आया॥
कौन दिशाको जाना मुझको, किसको देख मैं ललचाया।
कौन है मालिक इस दुनिया का, किसने रची है यह माया॥

—यह जिज्ञासा मनुष्यमें ही हो सकती है। पशुओंमें गाय बड़ी पवित्र है। मल और मूत्र किसीका भी पवित्र नहीं होता, पर गायका गोबर और गोमूत्र भी पवित्र होता है! पवित्रताके लिये गोमूत्र छिड़का जाता है, गोबरका चौका लगाया जाता है। ऐसी पवित्र होनेपर भी गायमें यह जाननेकी शक्ति नहीं है कि मेरा स्वरूप क्या है? परमात्मा क्या है? इसको मनुष्य ही जान सकता है। मनुष्यजन्मके सिवाय और कोई जाननेकी जगह नहीं है। यह मौका मनुष्यजन्ममें ही है। इस जन्ममें ही हम अपने-आपको जान सकते हैं, भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं, भगवान्‌में प्रेम कर सकते हैं। अगर मनुष्यशरीरमें आकर यह काम नहीं किया तो मनुष्यशरीर निरर्थक गया!

कामनाएँ सदा बदलती रहती हैं, पर जिज्ञासा और लालसा

सदा एक ही रहती है, कभी बदलती नहीं। कारण कि ये दोनों खुदकी हैं। खुद कभी बदलता नहीं, शरीर बदलता रहता है। ऐसे ही इच्छाएँ बदलती हैं, भाव बदलते हैं, रहन-सहन बदलता है। जो बदलता है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। इसलिये शुकदेवजीने राजा परीक्षित्को कहा—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मरूँगा।'

अगर स्वयं मर जाय तो दूसरी योनिमें कौन जायगा? स्वर्ग-नरकमें कौन जायगा? चौरासी लाख योनियाँ कौन भोगेगा? परन्तु स्वयं कभी मरता नहीं; क्योंकि वह परमात्माका अंश है।

राम मरे तो मैं मरूँ, नहिं तो मरे बलाय।
अविनाशीका बालका, मरे न मारा जाय॥

जब रामजी नहीं मरते तो फिर हम अकेले क्यों मरें? हम रामजीके अंश हैं। हमारा विनाश कभी होता ही नहीं। हम कैसे हैं—यह तो हम नहीं जानते, पर हम अनेक योनियोंमें गये, कभी जलचर बने, कभी नभचर बने, कभी थलचर बने, कभी अण्डज, जरायुज, स्वेदज अथवा उद्भिज्ज बने तो शरीर बदल गये, पर हम नहीं बदले। वे शरीर तो नहीं रहे, पर हम रहे। अतः हमारा स्वरूप हरदम रहनेवाली सत्ता है, जिसका कभी विनाश नहीं होता। यह सत्ता परमात्माका अंश है।

समुद्रसे जल उठता है तो बादल बनता है। बादल बनकर वह बरसता है। जानकार लोग बता देते हैं कि अमुक जगहसे बादल उठा है तो वह अमुक जगह बरसेगा। वर्षाका जल नालेमें जाता है, नाला नदीमें जाता है। नदी समुद्रमें जाती है। तात्पर्य है कि

समुद्रसे उठनेके बाद जल कहीं भी ठहरता नहीं, चलता ही रहता है। अन्तमें जब वह समुद्रमें मिल जाता है, तब उसको शान्ति मिलती है। ऐसे ही परमात्माका अंश जबतक परमात्माको प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक इसकी मुसाफिरी चलती रहती है। परमात्मासे मिलनेपर ही इसको शान्ति मिलती है। जैसे, शरीर पृथ्वीका अंश है। जबतक यह पृथ्वीमें नहीं मिल जाता, तबतक यह चलता-फिरता रहता है। अन्तमें मरकर यह मिट्टीमें मिल जाता है। यह पृथ्वीमें ही पैदा होता है, पृथ्वीमें ही रहता है और पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। यह पृथ्वीको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। इसी तरह इस जीवको जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक इसकी यात्रा चलती ही रहेगी। यह जन्मता-मरता ही रहेगा, दुःख पाता ही रहेगा—'**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।**' इसको कहीं शान्ति नहीं मिलेगी। इसलिये मनुष्यको अपनी जो असली जिज्ञासा और लालसा है, उसको जाग्रत् करना चाहिये।

मनुष्यशरीरमें आकर भोग और संग्रहमें लग गये तो लाभ कुछ भी नहीं हुआ, वहीं-के-वहीं रहे। कोल्हूका बैल उम्रभर चलता है, पर वहीं-का-वहीं रहता है। ऐसे ही बार-बार जन्म लेते रहे और मरते रहे तो वहीं-के-वहीं रहे, कुछ फायदा नहीं हुआ। फायदा तभी होगा, जब हमारा भटकना मिट जायगा। इसलिये विचार करना चाहिये कि हम किसके अंश हैं? हम जिसके अंश है, उसको प्राप्त करनेपर ही हमारा भटकना मिटेगा।

मनुष्यशरीर मिल गया तो परमात्मप्राप्तिका, अपना कल्याण करनेका अधिकार मिल गया। कल्याणकी प्राप्तिमें केवल जिज्ञासा या लालसा मुख्य है। अपनी जिज्ञासा अथवा लालसा होगी तो

कल्याणकी सब सामग्री मिल जायगी। सत्संग भी मिल जायगा, गुरु भी मिल जायगा, अच्छे सन्त-महात्मा भी मिल जायँगे, अच्छे ग्रन्थ भी मिल जायँगे। कहाँ मिलेंगे, कैसे मिलेंगे—इसका पता नहीं, पर सच्ची जिज्ञासा या लालसा होगी तो जरूर मिलेंगे। आप कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग, जिस योगमार्गपर चलना चाहते हैं, उस मार्गकी सामग्री देनेके लिये भगवान् तैयार हैं। परन्तु आप चलना ही नहीं चाहें तो भगवान् क्या करें? आपके ऊपर कोई टैक्स नहीं, कोई जिम्मेवारी नहीं, केवल आपकी लालसा होनी चाहिये।

कल्याणकी सच्ची लालसावाला साधक बिना कल्याण हुए कहीं टिक नहीं सकेगा। गुरु मिल गया, पर कल्याण नहीं हुआ तो वहाँ नहीं टिकेगा। साधु बनेगा तो वहाँ नहीं टिकेगा। गृहस्थ बनेगा तो वहाँ नहीं टिकेगा। किसी सम्प्रदायमें गया तो वहाँ नहीं टिकेगा। भूखे आदमीको जबतक अन्न नहीं मिलेगा, तबतक वह कैसे टिकेगा? जिसमें कल्याणकी अभिलाषा है, वह कहीं भी ठहरेगा नहीं। ठहरना उसके हाथकी बात नहीं है। जहाँ उसकी लालसा पूरी होगी, वहीं ठहरेगा।

सत्संग बड़े भाग्यसे मिलता है— *'बड़े भाग पाइब सतसंगा'* (मानस, उत्तर० ३३।४)। परन्तु जिस ग्रन्थमें भाग्यकी बात लिखी है, उसी ग्रन्थमें यह भी लिखा है— *'जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥'* (मानस, बाल० २५९।३)। सच्ची लालसावालेको सच्चा सत्संग अवश्य मिलेगा। जिसके भीतर कल्याणकी सच्ची लालसा है, उसको कल्याणका मौका मिलेगा— इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसमें भाग्यका काम है ही नहीं।

सांसारिक धनकी प्राप्तिके लिये तीन बातोंका होना जरूरी

है—धनकी इच्छा हो, उसके लिये उद्योग किया जाय और भाग्य साथ दे। परन्तु परमात्मा इच्छामात्रसे मिलते हैं। कारण कि मनुष्यशरीर मिला ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये है। अगर परमात्मा नहीं मिले तो मनुष्यजन्म सार्थक ही क्या हुआ? इसलिये सांसारिक कामनाओंका त्याग करके केवल स्वरूपकी जिज्ञासा अथवा परमात्माकी लालसा जाग्रत् करो। इसीमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है।

जबतक कामना (भोग और संग्रहकी इच्छा) रहती है, तबतक जीव संसारी रहता है। कामना मिटनेपर जब जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है, तब जीवकी अपने अव्यक्त स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। फिर वह स्वरूप जिसका अंश है, उसके प्रेमकी लालसा जाग्रत् होती है। स्वयं अव्यक्त होते हुए भी ज्ञानमें केवल अद्वैत रहता है और भक्तिमें कभी द्वैत होता है, कभी अद्वैत होता है। भक्तिमें भक्त अपनी तरफ देखता है तो द्वैत होता है और भगवान्‌की तरफ देखता है तो अद्वैत होता है अर्थात् अपनी तरफ देखनेसे 'मैं भगवान्‌का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं'—यह अनुभव होता है और भगवान्‌की तरफ देखनेसे 'सब कुछ केवल भगवान् ही हैं'—यह अनुभव होता है। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत—दोनों होनेसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

३. अभेद और अभिन्नता

मानवमात्रका कल्याण करनेके लिये तीन योग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। यद्यपि तीनों ही योग कल्याण करनेवाले हैं, तथापि इनमें एक सूक्ष्म भेद है कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। भक्तियोग सब योगोंका अन्तिम फल है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं, पर भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। शरीर और शरीरी—दोनों हमारे जाननेमें आते हैं, इसलिये ये दोनों ही लौकिक हैं। परन्तु परमात्मा हमारे जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत केवल माननेमें आते हैं, इसलिये वे अलौकिक हैं। शरीरको लेकर कर्मयोग, शरीरीको लेकर ज्ञानयोग और परमात्माको लेकर भक्तियोग चलता है। कर्मयोग भौतिक साधना है, ज्ञानयोग आध्यात्मिक साधना है और भक्तियोग आस्तिक साधना है।

गीताने कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको समकक्ष बताया है—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा'** (३। ३)। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है—**'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्'** (गीता ५। ४), **'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते'** (गीता ५। ५)। साधक चाहे कर्मयोगसे चले, चाहे ज्ञानयोगसे चले, दोनोंका एक ही फल होता है।

कर्मोंसे मनुष्य क्रिया और पदार्थमें फँसता है, पर कर्मयोग इन दोनोंसे ऊँचा उठाता है। इसलिये कल्याण करनेकी शक्ति कर्ममें नहीं है, प्रत्युत कर्मयोगमें है; क्योंकि कर्मोंमें योग ही कुशलता है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** (गीता २। ५०)। साधारण मनुष्य कर्म करते ही रहते हैं और कर्मोंका फल भी भोगते ही रहते हैं

अर्थात् जन्मते-मरते रहते हैं। कर्म करनेसे उनका कल्याण नहीं होता। परन्तु कर्मयोगसे कल्याण हो जाता है। कर्मयोगमें निःस्वार्थभावसे सेवा करनेपर संसारका त्याग हो जाता है। सांख्ययोगमें साधक सबको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित होता है। कर्मयोगमें करनेकी मुख्यता है और सांख्ययोगमें विवेक-विचारकी मुख्यता है। इस प्रकार कर्मयोग और सांख्ययोगमें बड़ा फर्क है। फर्क होते हुए भी दोनोंका फल एक ही है। दोनोंके द्वारा संसारसे ऊँचा उठनेपर मुक्ति हो जाती है। ये दोनों लौकिक साधन हैं; क्योंकि शरीर (जड़) और शरीरी (चेतन)—ये दोनों विभाग हमारे देखनेमें आते हैं, पर भगवान् देखनेमें नहीं आते। भगवान्‌को मानें या न मानें, यह हमारी मरजी है। इसमें विचार नहीं चलता। भगवान् हैं—ऐसा मानना ही पड़ता है। फिर वह माना हुआ नहीं रहता, उसका अनुभव हो जाता है।

'कर्म' में परिश्रम है और 'कर्मयोग' में विश्राम है। परिश्रम पशुओंके लिये है और विश्राम मनुष्यके लिये है। शरीरकी जरूरत परिश्रममें ही है। विश्राममें शरीरकी जरूरत है ही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर हमारे लिये है ही नहीं। कर्मयोगमें शरीरके द्वारा होनेवाला परिश्रम दूसरोंकी सेवाके लिये है और विश्राम अपने लिये है।

कर्मयोग तथा सांख्ययोगसे 'अभेद' होता है और भक्तियोगसे 'अभिन्नता' होती है। जहाँ-जहाँ ज्ञानका वर्णन है, वहाँ-वहाँ सत् और असत्, प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, क्षर और अक्षर आदि दोका वर्णन है; जैसे—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। परन्तु भक्तियोगमें दोका वर्णन नहीं है, प्रत्युत एक भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है—'**वासुदेवः सर्वम्**'

(गीता ७। १९)। ज्ञानयोगमें सत् अलग है और असत् अलग है, पर भक्तियोगमें सत् भी भगवान् हैं और असत् भी भगवान् हैं— '**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। अभेदकी अपेक्षा अभिन्नतामें एक विलक्षणता है। अभिन्नतामें कभी भेद होता है, कभी अभेद होता है। इसलिये अभिन्नतामें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है। कर्मयोग और सांख्ययोगके द्वारा जो अभेद होता है, उसका आनन्द प्रतिक्षण वर्धमान नहीं है। जैसे दूध उबलता है तो दूधमें उथल-पुथल होती है, ऐसे ही उथल-पुथलवाला जो आनन्द है, वह भक्तिका है और जो शान्त, एकरस आनन्द है, वह ज्ञानका है।

भक्तियोगकी अभिन्नतामें दो बातें होती हैं—जब भक्त अपनेको देखता है, तब वह भगवान्‌को अपना मालिक देखता है कि मैं भगवान्‌का दास हूँ और जब वह भगवान्‌को देखता है, तब वह अपनेको भूल जाता है कि केवल भगवान् ही हैं; भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, हुआ ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इस प्रकार भेद और अभेद दोनों होते रहते हैं, जिससे प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। गोस्वामीजी महाराजने लिखा है—

माई री! मोहि कोउ न समुझावै।
राम-गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै॥ १॥
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे, राम लखन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उर को, बिधि जो भयो बिपरीता॥ २॥
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान, सुनहु सखि! अरुझि परी यहि लेखे॥ ३॥

(गीतावली, अयोध्या० ५३)

कौशल्या माताको राम, लक्ष्मण और सीता—तीनों अपने सामने दीखते हैं तो वे सुमित्रासे पूछती हैं कि यह बताओ, अगर

रामजी वनको चले गये हैं तो वे मेरेको दीखते क्यों हैं? और अगर वे वनको नहीं गये हैं तो मेरे चित्तमें व्याकुलता क्यों है? कौशल्याजीकी ये दो अवस्थाएँ हैं। इन दोनों अवस्थाओंमें प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

भक्तिकी अभिन्नतामें अपनी तरफ देखते हैं तो भेद होता है कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। भगवान्‌की तरफ देखते हैं तो अभेद होता है कि एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। यह अभेद भक्तिमें ही है, ज्ञानयोगमें नहीं। भक्तिकी अभिन्नतामें भक्त भगवान्‌से भिन्न कभी होता ही नहीं। वह न संयोग (मिलन)-में भिन्न होता है, न वियोग (विरह)-में भिन्न होता है। ज्ञानमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है, जो परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**'।

ज्ञानयोगमें साधकको एक तत्त्वसे अभेदका अनुभव हो जाता है। परन्तु जिसके भीतर भक्तिके संस्कार होते हैं, उसको ज्ञानके अभेदमें सन्तोष नहीं होता। अतः उसको भक्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तिमें फिर भेद और अभेद होते रहते हैं, जिसको अभिन्नता कहते हैं। परन्तु ज्ञानयोगमें केवल अभेद होता है। ज्ञानयोगमें परमात्माका अंश अपने स्वरूपमें स्थित हो गया, अब उसमें भेद कैसे हो? उसमें अखण्ड आनन्द, अपार आनन्द, असीम आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द रहता है। परन्तु भक्तियोगमें अभिन्नता होती है। दोसे एक होते हैं तो अभेद होता है और एकसे दो होते हैं तो अभिन्नता होती है। अभेदमें जीवकी ब्रह्मके साथ एकता हो जाती है। एकरूपसे जो ब्रह्म है, वही अनेकरूपसे जीव है। अभिन्नतामें ईश्वरके साथ एकता होती है। अंश-अंशकी एकता अभेद है और अंश-अंशीकी एकता अभिन्नता है। अंश-अंशीकी

एकतामें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है। प्रतिक्षण वर्धमान प्रेममें विरह होनेपर भक्त मिलनकी इच्छा करता है और मिलन होनेपर चुप, शान्त हो जाता है! इस अवस्थाका वर्णन भागवतमें इस प्रकार किया गया है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं-
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है, कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

वेदान्तमें ऐसी मान्यता है कि अभेदके बाद कुछ भी बाकी नहीं रहता। अगर अभेदके बाद ईश्वरसे अभिन्नता मानें तो वेदान्तके अद्वैत सिद्धान्तमें कमी आती है। अपने सिद्धान्तमें कमी न आ जाय, इसलिये वेदान्तियोंने ईश्वरको कल्पित बता दिया; क्योंकि कल्पित बतानेके सिवाय और कोई उपाय नहीं। परन्तु ईश्वर किसकी कल्पना है—इसका उत्तर उनके पास नहीं है। वे द्वैतसे डरते हैं कि कहीं अपनेमें द्वैत न आ जाय। वास्तवमें सत्ता एक ही (अद्वैत) है; परन्तु अपने रागके कारण दूसरी सत्ता (द्वैत) दीखती है। दूसरी सत्ताका तात्पर्य संसारसे है, ईश्वरसे नहीं; क्योंकि संसार 'पर' है और ईश्वर 'स्व' (स्वकीय) है। दूसरी

सत्ताका निषेध करनेके लिये वेदान्तने ईश्वरको भी कल्पित मान लिया! राग तो अपना है, पर मान लिया ईश्वरको कल्पित! अपना राग मिटाये बिना दूसरी सत्ता कैसे मिटेगी? इसलिये ईश्वरको कल्पित न मानकर अपना राग मिटाना चाहिये। ईश्वर कल्पित नहीं है, प्रत्युत अलौकिक है*।

जीव सब एक हो जायँ तो (जीवभाव मिटनेपर) 'ब्रह्म' होता है। जो ऐश्वर्यसे युक्त है और सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, प्रलय आदिको जानता है, वह 'भगवान्' है। ये बातें जीवमें नहीं होतीं। इसलिये सब जीव एक होनेपर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय नहीं होता—'**जगद्व्यापारवर्जम्**' (ब्रह्मसूत्र ४। ४। १७)। कारण कि जीव ब्रह्मके साथ एक हो सकता है, भगवान्के साथ नहीं। भगवान्के साथ उसका अभेद नहीं हो सकता, पर अभिन्नता हो सकती है। श्रीएकनाथजी महाराजने भागवत, एकादश स्कन्धकी टीकामें इसी अभिन्नताको अभेदभक्ति कहा है।

---

* **द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(गीता १५। १६-१७)

'इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके ही पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर क्षर और जीवात्मा अक्षर कहा जाता है।'

'उत्तम पुरुष तो अन्य (विलक्षण) ही है, जो 'परमात्मा'— इस नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।'

४. मानवशरीरका सदुपयोग

मानवशरीरकी जो महिमा है, वह आकृतिको लेकर नहीं है, प्रत्युत विवेकको लेकर ही है। सत् और असत्, जड़ और चेतन, सार और असार, कर्तव्य और अकर्तव्य—ऐसी जो दो-दो चीजें हैं, उनको अलग-अलग समझनेका नाम 'विवेक' है। यह विवेक परमात्माका दिया हुआ और अनादि है। इसलिये यह पैदा नहीं होता, प्रत्युत जाग्रत् होता है। सत्संगसे यह विवेक जाग्रत् और पुष्ट होता है। सत्संगमें भी खूब ध्यान देनेसे, गहरा विचार करनेसे ही विवेक जाग्रत् होता है, साधारण ध्यान देनेसे नहीं होता। आजकल प्राय: यह देखनेमें आता है कि सत्संग करनेवाले, सत्संग करानेवाले, व्याख्यान देनेवाले भी गहरी पारमार्थिक बातोंको समझते नहीं। वे जड़-चेतनके विभागको ठीक तरहसे जानते ही नहीं। थोड़ी जानकारी होनेपर व्याख्यान देने लग जाते हैं। जिनका विवेक जाग्रत् हो जाता है, उनमें बहुत विलक्षणता, अलौकिकता आ जाती है।

साधकको सबसे पहले शरीर (जड़) और शरीरी (चेतन)-का विभाग समझना चाहिये। शरीर और अशरीरीसे आरम्भ करके संसार और परमात्मातक विवेक होना चाहिये। शरीर और शरीरीका विवेक मनुष्यके सिवाय और जगह नहीं है। देवताओंमें विवेक तो है, पर भोगोंमें लिप्त होनेके कारण वह विवेक काम नहीं करता।

शरीर और शरीरीके विभागको जाननेवाले मनुष्य बहुत कम हैं। इसलिये सत्संगके द्वारा इस विभागको जाननेकी खास जरूरत है। शरीर जड़ है और स्वयं (आत्मा) चेतन है। स्वयं परमात्माका अंश है और शरीर प्रकृतिका अंश है। चेतन अलग है और जड़

अलग है। मुक्ति चेतनकी होगी, जड़की नहीं; क्योंकि बन्धन चेतनने स्वीकार किया है। जड़ तो हरदम बदल रहा है और नाशकी तरफ जा रहा है। हमारी जितनी उम्र बीत गयी है, उतने दिन तो हम मर ही गये हैं। 'मरना' शब्द भले ही खराब लगे, पर बात सच्ची है। जन्मके समय जीनेके जितने दिन बाकी थे, उतने दिन अब बाकी नहीं रहे। जितने दिन बीत गये, उतने दिन तो मर गये, अब कितने दिन बाकी हैं, इसका पता नहीं है। जीवनका जो समय चला गया, नष्ट हो गया, वह जड़-विभागमें हुआ है, चेतन-विभागमें नहीं। चेतन-विभागमें मृत्यु नहीं है। उसकी कोई उम्र नहीं है। वह अमर है। शरीर मरता है, आत्मा नहीं मरता। इस प्रकार आरम्भसे ही जड़-चेतनके विभागको समझ लेना चाहिये। जो चेतन-विभाग है, वह परमात्माका है और जो जड़-विभाग है, वह प्रकृतिका है। गीतामें आया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। (१३। १९)

प्रकृति और पुरुष—दोनों अनादि तो हैं, पर दोनोंमें पुरुष (चेतन) अनादि तथा अनन्त है, और प्रकृति अनादि तथा सान्त है। कई विद्वान् प्रकृतिको भी अनन्त मानते हैं, पर यह दार्शनिक मतभेद है। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि जो अपनेको भी नहीं जानता और दूसरेको भी नहीं जानता, उसका नाम 'जड़' है। जो अपनेको भी जानता है और दूसरेको भी जानता है, उसका नाम 'चेतन' है। जाननेकी शक्ति चेतनता है। यह शक्ति जड़में नहीं है।

मन-बुद्धि चेतनमें दीखते हैं, पर हैं ये जड़ ही। ये चेतनके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। हम (स्वयं) शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको जाननेवाले हैं। इन्द्रियोंके दो विभाग हैं—कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियाँ तो सर्वथा जड़ हैं और ज्ञानेन्द्रियोंमें चेतनका आभास है। उस आभासको लेकर ही श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना

और घ्राण— ये पाँचों इन्द्रियाँ 'ज्ञानेन्द्रियाँ' कहलाती हैं। ज्ञानेन्द्रियोंको लेकर जीवात्मा विषयोंका सेवन करता है—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

(गीता १५। ९)

ज्ञानेन्द्रियोंमें और अन्तःकरणमें जो ज्ञान दीखता है, वह उनका खुदका नहीं है, प्रत्युत चेतनके द्वारा आया हुआ है। खुद तो वे जड़ ही हैं। जैसे दर्पणको सूर्यके सामने कर दिया जाय तो सूर्यका प्रकाश दर्पणमें आ जाता है। उस प्रकाशको अँधेरी कोठरीमें डाला जाय तो वहाँ प्रकाश हो जाता है। वह प्रकाश मूलमें सूर्यका है, दर्पणका नहीं। ऐसे ही इन्द्रियोंमें और अन्तःकरणमें चेतनसे प्रकाश आता है। चेतनके प्रकाशसे प्रकाशित होनेपर भी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण जड़ हैं। हम स्वयं चेतन हैं और परमात्माके अंश हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं— '**ममैवांशो जीवलोके**' (१५। ७)। जैसे शरीर माँ और बाप दोनोंसे बना हुआ है, ऐसे स्वयं प्रकृति और परमात्मा दोनोंसे बना हुआ नहीं है। यह केवल परमात्माका ही अंश है। भगवान्‌ने कहा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

(गीता १४। ३)

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

अर्थात् प्रकृति माता है और मैं उसमें बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ, जिससे सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं। अतः प्राणियोंमें प्रकृतिका अंश भी है और परमात्माका भी। परन्तु जो जीवात्मा है, उसमें केवल परमात्माका ही अंश है— '**ममैवांशः**' (मम एव अंशः)। देवता, भूत-प्रेत, पिशाच आदि जितने भी शरीर हैं, उन

सबमें जड़ और चेतन—दोनों रहते हैं। देवताओंके शरीरमें तैजस-तत्त्वकी प्रधानता है, भूत-प्रेतोंके शरीरमें वायु-तत्त्वकी प्रधानता है, मनुष्योंके शरीरमें पृथ्वी-तत्त्वकी प्रधानता है, आदि। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न तत्त्वकी प्रधानता रहती है। यद्यपि सभी शरीरोंमें मुख्यता चेतनकी ही है, पर वह शरीरमें मैं-मेरापन करके उसीको मुख्य मान लेता है। जड़ शरीरकी मुख्यता मानना ही जन्म-मरणका कारण है— **'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। गुणोंका संग होनेसे ही जीवकी तीन गतियाँ होती हैं। जो सत्त्वगुणमें स्थित होते हैं, वे ऊर्ध्वगतिमें जाते हैं। जो रजोगुणमें स्थित होते हैं, वे मध्यलोकमें जाते हैं। जो तमोगुणमें स्थित होते हैं, वे अधोगतिमें जाते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४। १८)

इस प्रकार जड़-चेतनके विभागको ठीक तरहसे समझना चाहिये। जड़-अंश (शरीर) छूट जाता है, हम रह जाते हैं। जबतक मुक्ति नहीं होती, तबतक जड़ता साथमें रहती है। इसलिये एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर सूक्ष्म और कारणशरीर साथमें रहते हैं। मुक्ति होनेपर केवल चेतनता रहती है, जड़ता साथमें नहीं रहती अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर साथमें नहीं रहते। परन्तु इसमें एक बहुत सूक्ष्म बात है कि मुक्ति होनेपर भी जड़ताका संस्कार रहता है। वह संस्कार जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर मतभेद करनेवाला होता है। जैसे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और अचिन्त्यभेदाभेद—ये पाँच मुख्य मतभेद हैं, जो शैव और वैष्णव आचार्योंमें रहते हैं। जबतक मतभेद है, तबतक जड़ताका

संस्कार है। परन्तु मुक्तिके बाद जब भक्ति होती है, तब जड़ताका यह सूक्ष्म संस्कार भी मिट जाता है। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंमें जड़ता सर्वथा नहीं रहती, केवल चेतनता रहती है। जैसे, राधाजी सर्वथा चिन्मय हैं।

मनुष्योंके कल्याणके लिये तीन योग बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग*। कर्मयोग जड़को लेकर चलता है, ज्ञानयोग चेतनको लेकर चलता है और भक्तियोग भगवान्‌को लेकर चलता है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो लौकिक साधन हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा'** (गीता ३। ३), पर भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। कारण कि जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों लौकिक हैं—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** (गीता १५। १६)। परन्तु भगवान् क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५। १७)। जिसकी संसारमें ही आसक्ति है, जो संसारको मुख्य मानते हैं, जिनका आत्माकी तरफ इतना विचार नहीं है, पर जो अपना कल्याण चाहते हैं, उनके लिये कर्मयोग मुख्य है। अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार निष्कामभावसे अर्थात् केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करना कर्मयोग है। सकामभावमें जड़ता आती है, पर निष्कामभावमें चेतनता रहती है। निष्कामभाव होनेके कारण कर्मयोगी जड़-अंशसे ऊँचा उठ जाता है। अगर निष्कामभाव नहीं हो कर्म होंगे, कर्मयोग नहीं होगा। कर्मोंसे मनुष्य बँधता है—**'कर्मणा बध्यते जन्तुः'**।

निष्कामभाव होनेसे मनुष्यमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि

---

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

द्वन्द्वोंका नाश हो जाता है और समता आ जाती है। समता आनेसे योग हो जाता है; क्योंकि योग नाम समताका ही है— **'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २। ४८)। निष्कामभाव आनेसे चेतनताकी मुख्यता और जड़ताकी गौणता हो जाती है। मनुष्यमें जितना-जितना निष्कामभाव आता है, उतना-उतना वह संसारसे ऊँचा उठता है और जितना-जितना सकामभाव आता है, उतना-उतना वह संसारमें बँधता है।

गीतामें आया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५। १९)

जिनका मन साम्यावस्थामें स्थित हो गया, उन लोगोंने संसारको जीत लिया अर्थात् वे जन्म-मरणसे ऊँचे उठ गये। ब्रह्म निर्दोष और सम है और उनका अन्तःकरण भी निर्दोष और सम हो गया, इसलिये वे ब्रह्ममें ही स्थित हो गये। वास्तवमें परमात्मामें स्थिति सबकी है; क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक हैं। एक सुईकी नोक-जितनी जगह भी परमात्मासे खाली नहीं है। परमात्मा सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण हैं। परन्तु परमात्मामें स्थित होते हुए भी संसारमें राग-द्वेषके कारण मनुष्य परमात्मामें स्थित नहीं हैं, प्रत्युत संसारमें स्थित हैं। वे परमात्मामें स्थित तभी होंगे, जब उनके मनमें राग-द्वेष मिट जायँगे। जबतक मनमें राग-द्वेष रहेंगे, तबतक भले ही चारों वेद और छः शास्त्र पढ़ लो, पर मुक्ति नहीं होगी। राग-द्वेषको हटानेके लिये क्या करें? इसके लिये भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें (प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें) मनुष्यके राग-द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले) शत्रु हैं।'

अनुकूलताको लेकर राग और प्रतिकूलताको लेकर द्वेष होता है। साधकको चाहिये कि वह इनके वशीभूत न हो। वशीभूत होनेसे राग-द्वेष बढ़ते हैं। जबतक राग-द्वेष हैं, तबतक जन्म-मरण है। राग-द्वेषसे ऊँचा उठनेपर मुक्ति होती है और परमात्मामें प्रेम होनेपर भक्ति होती है। पहले कर्मयोग और ज्ञानयोग करके भी भक्ति कर सकते हैं और आरम्भसे भी भक्ति कर सकते हैं।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। कई व्यक्ति ऐसा नहीं मानते, प्रत्युत कर्मयोग तथा भक्तियोगको साधन और ज्ञानयोगको साध्य मानते हैं। परन्तु गीता भक्तियोगको ही साध्य मानती है। गीताके अनुसार कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों निष्ठाएँ समकक्ष हैं, पर भक्ति दोनोंसे विलक्षण है।

कर्मयोगमें दो बातें हैं—कर्म और योग। ऐसे ही ज्ञानयोगमें भी दो बातें हैं—ज्ञान और योग। परन्तु भक्तियोगमें दो बातें नहीं होतीं। हाँ, भक्तियोगके प्रकार दो हैं—साधन-भक्ति और साध्य-भक्ति।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी साधन-भक्ति है और प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमाभक्ति साध्य-भक्ति है—'**मद्भक्तिं लभते**

पराम्' (गीता १८। ५४)। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (११। ३। ३१) 'भक्तिसे भक्ति पैदा होती है' अर्थात् साधनभक्तिसे साध्यभक्तिकी प्राप्ति होती है। इस तरह साधक चाहे तो आरम्भसे ही भक्ति कर सकता है। भक्तिका आरम्भ कब होता है? जब भगवान् प्यारे लगते हैं, भगवान्में मन खिंच जाता है। संसारके भोग और रुपये प्यारे लगते हैं—यह सांसारिक (बन्धनमें पड़े हुए) आदमीकी पहचान है। भगवान् प्यारे लगते हैं—यह भक्तकी पहचान है। इसलिये जब रुपये और पदार्थ अच्छे नहीं लगेंगे, इनसे चित्त हट जायगा और भगवान्में लग जायगा, तब भक्ति आरम्भ हो जायगी। जबतक भोगोंमें और रुपयोंमें आकर्षण है, तबतक ज्ञानकी बड़ी ऊँची-ऊँची बातें कर लो, बन्धन ज्यों-का-त्यों रहेगा। जैसे गीध बहुत ऊँचा उड़ता है, पर उसकी दृष्टि मुर्देपर रहती है। मांस देखते ही उसकी ऊँची उड़ान खत्म हो जाती है और वह वहीं नीचे गिर पड़ता है। ऐसे ही बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करनेवाले, व्याख्यान देनेवाले रुपयोंको और भोगोंको देखते ही उनपर गिर पड़ते हैं! जैसे गीधको सड़े-गले एवं दुर्गन्धित मांसमें ही रस (आनन्द) आता है, ऐसे ही उनको रुपयोंमें और भोगोंमें ही रस आता है। इसलिये गीताने कहा है—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(२। ४४)

'उस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणीसे जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती।'

जो मान, आदर, बड़ाई, रुपये, भोग आदिमें ही रचे-पचे हैं,

वे मुक्त नहीं हो सकते। मुक्त अर्थात् बन्धनसे रहित तभी हो सकते हैं, जब इनसे ऊँचे उठेंगे। 'भोगैश्वर्य' का अर्थ है—भोग भोगना और भोग-सामग्री (रुपये, सोना-चाँदी, जमीन, मकान आदि)-का संग्रह करना। इन दोनोंमें लगे हुए मनुष्य परमात्मप्राप्ति करना तो दूर रहा, 'हमें परमात्माको प्राप्त करना है'—ऐसा निश्चय भी नहीं कर सकते। सत्संग करनेवालोंका अनुभव है कि भोग और संग्रहकी आसक्ति कम होती है और मिटती है। जैसे, हमारी वृत्तिमें क्रोध ज्यादा था। अतः थोड़ी-सी बातमें क्रोध आ जाता था, बड़े जोरसे आता था और काफी देरतक रहता था। परन्तु सत्संग करते-करते वह क्रोध कम होता है, थोड़ी-सी बातमें नहीं आता, जोरसे नहीं आता और कम देर ठहरता है। जब छोटी-छोटी कई बातें इकट्ठी हो जाती हैं, तब सहसा किसी बातपर जोरसे क्रोधका भभका आता है। परन्तु सत्संग करते-करते वह भी मिट जाता है। क्रोधका स्वरूप है कि जिसपर क्रोध आता है, उसका अनिष्ट चाहता है। सत्संग करते-करते किसीका अनिष्ट करनेकी चाहना मिट जाती है। सत्संग करनेवालेको कभी क्रोध आ जाय तो उसमें होश रहता है और वह नरक देनेवाला नहीं होता। काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों नरकोंके दरवाजे हैं*। इनमें फँसे हुए मनुष्य सीधे नरकोंमें जाते हैं। उनको नरकोंमें जानेसे कोई अटकानेवाला नहीं है। परन्तु सत्संग करनेवालोंमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष कम हो जाते हैं। वह काम-क्रोधादिके वशीभूत नहीं होता। वह अन्यायपूर्वक, झूठ, कपट, जालसाजी, बेईमानीसे धन इकट्ठा नहीं करता। वह उतना ही लेता

---

* त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

है, जितनेपर उसका हक लगता है। पराये हककी चीज नहीं लेता। काम-क्रोधादिके वशीभूत होनेसे अन्याय-मार्गमें प्रवेश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप नरकोंकी प्राप्ति होती है। परन्तु सत्संग करनेसे ये काम-क्रोधादि दोष क्रमशः पत्थर, बालू, जल और आकाशकी लकीरकी तरह कम होते-होते मिट जाते हैं। पत्थरपर जो लकीर पड़ जाती है, वह कभी मिटती नहीं। बालूकी लकीर जब हवा चलती है, तब बालूसे ढककर मिट जाती है। जलपर लकीर खिंचती हुई तो दीखती है, पर जलपर लकीर बनती नहीं। परन्तु आकाशमें लकीर खींचें तो केवल अँगुली ही दीखती है, लकीर बनती ही नहीं। इस प्रकार जब काम-क्रोधादि दोष किंचिन्मात्र भी नहीं रहते, तब बन्धन मिट जाता है और परमात्मामें स्थिति हो जाती है।

इस प्रकार सत्संग करनेसे दोष कम होते हैं। अगर दोष कम नहीं होते तो असली सत्संग नहीं मिला है। भगवान्‌की कथा तो किसीसे भी सुनें, सुननेसे लाभ होता है। अगर कथा कहनेवाला प्रेमी भक्त हो तो बहुत विलक्षणता आती है। परन्तु तात्त्विक विवेचन जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषसे सुननेपर ही लाभ होता है। जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ सन्त-महात्माओंके संगसे बहुत विलक्षण एवं ठोस लाभ होता है। प्रेमी भक्तके विषयमें आया है—

वाग् गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं-
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-

करती गद्‌गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बार-बार रोता रहता है, कभी-कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं-
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥

(अध्यात्म० उत्तर० ५। ६१)

'चाहे मेरे निर्गुण स्वरूपका चित्तसे उपासना करनेवाला हो अथवा मायिक गुणोंसे अतीत मेरे सगुण स्वरूपकी सेवा-अर्चना करनेवाला हो, वह भक्त मेरा ही स्वरूप है। वह सूर्यकी भाँति विचरण करता हुआ अपनी चरण-रजके स्पर्शसे तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।'

तात्पर्य है कि चाहे भक्त हो या ज्ञानी, उसके चरणोंके स्पर्शसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। जैसे सूर्य जहाँ जाता है, वहाँ प्रकाश हो जाता है, ऐसे ही वह महात्मा जहाँ जाता है, वहाँ ज्ञानका प्रकाश हो जाता है, आनन्द हो जाता है। कारण कि उसके भीतर राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि बिलकुल नहीं होते। इसलिये हमारी यही चेष्टा होनी चाहिये कि राग-द्वेष, काम-क्रोध आदिसे पिण्ड छूट जाय। हमारे हृदयमें राग-द्वेषादि विकार न रहें। जबतक ये कम न हों, तबतक समझे कि असली सत्संग मिला नहीं है। जबतक मनुष्यमें गुण-अवगुण दोनों रहते हैं, तबतक वह साधक नहीं होता। साधक तभी होता है, जब अवगुण मिट जाते हैं।

दूसरा उसके साथ वैर करे तो भी उसके हृदयमें वैर नहीं होता, उलटे हँसी आती है, प्रसन्नता होती है। वह अनिष्ट-से-अनिष्ट चाहनेवालेका भी बुरा नहीं चाहता। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों मार्गोंमें राग-द्वेष मिट जाते हैं। अतः साधकको देखते रहना चाहिये कि मेरे राग-द्वेष कम हो रहे हैं या नहीं। अगर कम हो रहे हैं तो समझे कि साधन ठीक चल रहा है।

साधकमें तीन बातें रहनी चाहिये। वह किसीको बुरा मत समझे, किसीका बुरा मत चाहे और किसीका बुरा मत करे। इन तीन बातोंका वह नियम ले ले तो उसका साधन बहुत तेज और बढ़िया होगा। इन तीन बातोंको धारण करनेसे वह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंका अधिकारी बन जाता है। इसलिये मेरी साधकोंसे प्रार्थना है कि वे कम-से-कम इन तीन बातोंको धारण कर लें। वे सबकी सेवा करें, सबको सुख पहुँचायें। सुख भी न पहुँचा सकें तो कम-से-कम किसीको दुःख मत पहुँचायें। जो दूसरोंको दुःख पहुँचाता है, वह साधन नहीं कर सकता।

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(मानस, उत्तर० ४१। १)

मनुष्यशरीर साधन करनेके लिये मिला है। यह साधनयोनि है। इसलिये सच्चे साधक बनो। सच्चे सत्संगी बनो। योगारूढ़ हो जाओ। जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ हो जाओ। भगवान्‌के प्रेमी हो जाओ। यह मौका मनुष्यजन्ममें ही है।

५. सच्ची आस्तिकता

गीता भगवान्‌के समग्ररूपको मानती है, उसीको महत्त्व देती है और उसकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता मानती है। सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)—यह भगवान्‌का समग्ररूप है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि रूप तथा पदार्थ और क्रियारूप सम्पूर्ण जगत्, सम्पूर्ण जीव, सम्पूर्ण देवता—ये सब-के-सब भगवान्‌के समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिये जो समग्रको जान लेता है, उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता—'**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**' (गीता ७। २)। समग्रको जाननेका मुख्य साधन है—शरणागति। इसलिये भगवान्‌ने गीतोपदेशका पर्यवसान शरणागतिमें ही किया है—'**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)। भगवान्‌ने गीताभरमें केवल शरणागतिको ही '**सर्वगुह्यतम**' (सबसे अत्यन्त गोपनीय) कहा है—'**सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु**' (गीता १८। ६४)।

वास्तवमें सत्ता एक ही है। उस एक परमात्माकी सत्ताके अधीन जीवकी सत्ता है और जीवके अधीन जगत्‌की सत्ता है। जीव और जगत्—दोनों परमात्मामें ही भासित होते हैं। गीताके सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने जीवको अपनी 'परा प्रकृति' और जगत्‌को अपनी 'अपरा प्रकृति' बताया है। परा और अपरा—दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ हैं। अतः इनको अपनी प्रकृति बतानेमें भगवान्‌का तात्पर्य है कि ये दोनों मेरेसे अलग नहीं हैं। शक्तिमान्‌से अलग शक्तिकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती।

शक्तिमान् शक्तिके बिना रह सकता है, पर शक्ति शक्तिमान्‌के बिना नहीं रह सकती।

अब शंका होती है कि जब जीव (परा) और जगत् (अपरा)—दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं तो फिर जगत्‌की सत्ता अलग क्यों दीखती है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा है—**'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५) अर्थात् जीवने ही जगत्‌को धारण किया है अर्थात् जगत्‌को सत्ता और महत्ता दी है। जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। परन्तु यह मिलने और बिछुड़नेवाले शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना मान लेता है—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** (गीता १५।७)। जगत्‌के साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही यह जन्म-मरणके चक्करमें पड़कर दुःख पा रहा है। जीवके द्वारा जगत्‌से माना हुआ यह सम्बन्ध ही सम्पूर्ण योनियोंका कारण है—**'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय'** (गीता ७। ६) अर्थात् इन दोनोंके माने हुए संयोगके कारण ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी पैदा होते हैं। तात्पर्य हुआ कि जीवके द्वारा अपरासे जोड़ा गया सम्बन्ध ही मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है।

'वासुदेवः सर्वम्' अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं—यह गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है। इसका अनुभव करनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। प्रत्येक देश, वेश, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य भगवान्‌का भक्त होकर **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कर सकता है। कारण कि भगवान्‌की प्राप्ति शरीरके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेदके लिये तीन बातोंको जानना आवश्यक है—शरीर 'मैं' नहीं

हूँ, शरीर 'मेरा' नहीं है और शरीर 'मेरे लिये' नहीं है। यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली होती है, वह अपनी और अपने लिये नहीं होती। एक भगवान् ही हमारे ऐसे साथी हैं, जो सदा हमारे साथ रहते हैं, कभी हमसे बिछुड़ते नहीं। परन्तु जो मनुष्य मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुओंमें ही उलझे रहते हैं, नाशवान् भोगोंमें और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, वे सदा साथ रहते हुए भी भगवान्‌को न प्राप्त होकर बार-बार संसारमें जन्मते-मरते रहते हैं—'**अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि**' (गीता ९। ३)।

संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उसको जीवने ही अहंता-ममता-कामनाके कारण स्वतन्त्र सत्ता दी है। जबतक साधकमें अहंता-ममता-कामना रहती है, तबतक उसको यह मानना चाहिये कि परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा है। परन्तु जब उसकी अहंता-ममता-कामना मिट जायगी, तब उसकी दृष्टिमें न संसारमें परमात्मा रहेंगे, न परमात्मामें संसार रहेगा, प्रत्युत परमात्मा-ही-परमात्मा रहेंगे। परमात्मामें संसारको देखना अथवा संसारमें परमात्माको देखना अधूरी आस्तिकता है। परन्तु केवल परमात्माको ही देखना पूरी आस्तिकता है।

भगवान्‌ने कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीवका सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ है, प्रकृतिके साथ बिलकुल नहीं है। इसलिये जड़-चेतनका ठीक-ठीक विवेक करना साधकके लिये बहुत आवश्यक है। साधकको यह जानना चाहिये कि हमारा विभाग ही अलग है। हम चेतन-विभागमें हैं। जड़-विभागसे हमारा किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाएँ जड़-विभागमें हैं। चेतन-विभागमें न पदार्थ है, न क्रिया है। वास्तवमें पदार्थ और

क्रियाकी सत्ता ही नहीं है। इसलिये साधकको पदार्थ और क्रियासे रहित होना नहीं है, प्रत्युत वह स्वतः इनसे रहित है। साधक अव्यक्त (निराकार) और अक्रियरूप है। मात्र 'करना' प्रकृतिका और 'न करना' स्वयंका होता है। परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, उसके लिये कुछ न करनेकी जरूरत है। करनेका आश्रय प्रकृतिका आश्रय है। वह छोड़ दिया तो तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहा। तत्त्वमें न पदार्थ है, न क्रिया है, प्रत्युत केवल विश्राम है।

भगवान्‌ने जीवात्माके लिये कहा है—**'नित्यः सर्वगतः'** (गीता २। २४), **'येन सर्वमिदं ततम्'** (गीता २। १७) अर्थात् इस जीवात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, यह नित्य रहनेवाला और सबमें परिपूर्ण है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शरीर-अन्तःकरणको न देखकर अपनी सर्वव्यापी सामान्य सत्तामें स्थित हो जाय। जो सब जगह व्याप्त है, वही साधकका स्वरूप है। उसका स्वरूप शरीर-अन्तःकरणमें नहीं है। साधकमें 'मैं हूँ' की मुख्यता न होकर 'है' की मुख्यता रहे। जो 'है', वही वास्तवमें अपना है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (७। ७) और सन्त-महात्माओंका भी अनुभव है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)। भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही संसारका अकारण हित करनेवाले हैं*। इसलिये इन दोनोंकी बात मान लेनी चाहिये। उनकी बातके आगे हमारी बातका कोई मूल्य नहीं है। हमें भले ही वैसा न दीखे, पर बात उनकी ही सच्ची है। इसलिये हमें जगत्‌को जगत्-रूपसे न देखकर भगवत्-रूपसे ही देखना

---

* हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

चाहिये। संसारमें जो सात्त्विक, राजस और तामस भाव (गुण, पदार्थ और क्रिया) देखनेमें आते हैं, वे भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। भगवान्‌के स्वरूप होते हुए भी वे गुण हमारे उपास्य नहीं हैं। हमारा उपास्य गुणातीत है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—'**न त्वहं तेषु ते मयि**' (गीता ७। १२) 'मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं'। गुण उपास्य इसलिये नहीं हैं कि हमें तीनों गुणोंसे ऊँचा उठना है। कारण कि जो मनुष्य तीनों गुणोंसे मोहित होता है, वह गुणातीत भगवान्‌को नहीं जानता*। जो गुणोंसे मोहित नहीं होते, उनको सब जगह भगवान् ही दीखते हैं, पर गुणोंसे मोहित मनुष्यको संसार ही दीखता है, भगवान् नहीं दीखते।

यहाँ शंका हो सकती है कि भगवान्‌में राजस-तामस भाव कैसे होते हैं? इसका समाधान है कि जैसे घर एक ही होता है, पर उसमें रसोई भी होती है और शौचालय भी अथवा एक ही शरीरमें उत्तमांग भी होते हैं और अधमांग भी, ऐसे ही एक भगवान्‌में सात्त्विक भाव भी हैं और राजस-तामस भाव भी।

संसारको मिथ्या मानकर केवल भगवान्‌को सत्य मानना भी एक पद्धति (साधन-मार्ग) है। पर इस पद्धतिमें संसार बहुत दूरतक साथ रहता है। कारण कि त्याग करनेसे त्याज्य वस्तुकी सूक्ष्म सत्ता बनी रहती है। इसलिये इस पद्धतिमें भगवान्‌से अभेद तो होता है, पर अभिन्नता (आत्मीयता) नहीं होती। परन्तु जो संसाररूपसे भगवान्‌को देखते हैं, वे भगवान्‌के साथ अभिन्न हो जाते हैं।

---
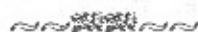
* **त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।**
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७। १३)

६. संसारका असर कैसे छूटे ?

साधकोंकी प्राय: यह शिकायत रहती है कि यह जानते हुए भी कि संसारकी कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, जब कोई वस्तु सामने आती है तो उसका असर पड़ जाता है। इस विषयमें दो बातें ध्यान देनेयोग्य हैं। एक बात तो यह है कि असर पड़े तो परवाह मत करो अर्थात् उसकी उपेक्षा कर दो। न तो उसको अच्छा समझो, न बुरा समझो। न उसके बने रहनेकी इच्छा करो, न मिटनेकी इच्छा करो। उससे उदासीन हो जाओ। दूसरी बात यह है कि असर वास्तवमें मन-बुद्धिपर पड़ता है, आपपर नहीं पड़ता। अत: उसको अपनेमें मत मानो।

किसी वस्तुसे राग होनेपर भी सम्बन्ध जुड़ता है और द्वेष होनेपर भी सम्बन्ध जुड़ता है। भगवान् श्रीराम वनमें गये तो उनके साथ जिन ऋषि-मुनियोंने स्नेह किया, उनका उद्धार हो गया और जिन राक्षसोंने द्वेष किया, उनका भी उद्धार हो गया, पर जिन्होंने न राग किया, न द्वेष किया, उनका उद्धार नहीं हुआ; क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ नहीं जुड़ा। इसी तरह संसारका असर मनमें पड़े तो उसमें राग-द्वेष करके उसके साथ अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। आप भगवान्‌के भजन-साधनमें लगे रहो। संसारका असर हो जाय तो होता रहे, अपना उससे कोई मतलब नहीं—इस तरह उसकी उपेक्षा कर दो।

जैसे आप कुत्तेके मनके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानते, ऐसे ही अपने मनके साथ भी अपना कोई सम्बन्ध मत मानो। कुत्तेका मन और आपका मन एक ही जातिके हैं। जब कुत्तेका

मन आपका नहीं है तो यह मन भी आपका नहीं है। मन जड़ प्रकृतिका कार्य है, आप चेतन परमात्माके अंश हो। जैसे कुत्तेके मनमें संसारका असर पड़नेसे आपमें कोई फर्क नहीं पड़ा, ऐसे ही इस मनका भी आपमें कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिये।

मनका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है और आपका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। आपने मनके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया तो अब दु:ख पाना ही पड़ेगा। अब आप मनसे, शरीरसे जो काम करोगे, उसका पाप-पुण्य आपको लगेगा ही। कुत्तेके मनमें कुछ भी आये, उससे आपको क्या मतलब? ऐसे ही इस मनमें कुछ भी आये, उससे आपको क्या मतलब? आपका सम्बन्ध शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ नहीं है, प्रत्युत परमात्माके साथ है—इस बातको समझानेके लिये ही गीतामें भगवान् कहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (१५।७) 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है'। इस बातको समझ लो तो आपकी वृत्तियोंमें, आपके साधनमें फर्क पड़ जायगा।

आप अपनेको 'मैं हूँ'—इस तरह जानते हैं। इसमें 'मैं' तो जड़ है और 'हूँ' चेतन है। 'मैं' के कारणसे 'हूँ' है। अगर 'मैं' (अहम्) न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल 'है' (चिन्मय सत्तामात्र) रह जायगा। इसी बातको गीतामें भगवान्ने कहा है कि जब साधक निर्मम-निरहंकार हो जाता है, तब उसकी स्थिति ब्रह्ममें हो जाती है—'**एषा ब्राह्मी स्थितिः**' (गीता २। ७२)।

अहंकार हमारा स्वरूप नहीं है। अहंकार अपरा प्रकृति है और हम परा प्रकृति हैं। हम अलग हैं, अहंकार अलग है। जैसे, जाग्रत् और स्वप्नमें अहंकार जाग्रत् रहता है, पर सुषुप्तिमें अहंकार

जाग्रत् नहीं रहता, प्रत्युत अविद्यामें लीन हो जाता है। सुषुप्तिमें अहंकार न रहनेपर भी हम रहते हैं। हमारा स्वरूप अशरीरी है। जैसे भगवान् अव्यक्त हैं* , ऐसे ही उनका अंश होनेसे हम भी स्वरूपसे अव्यक्त (निराकार) हैं। अव्यक्तमूर्तिका अंश भी अव्यक्तमूर्ति ही होगा। यह शरीर तो भोगायतन (भोगनेका स्थान) है। जैसे हम रसोईघरमें बैठकर भोजन करते हैं, ऐसे ही हम शरीरमें रहकर कर्मफल भोगते हैं। इसलिये साधकको यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि मैं अव्यक्त (निराकार)-रूप हूँ, मनुष्यरूप नहीं हूँ। साधन करनेवाला शरीर नहीं होता। इसीलिये हम कहते हैं कि मैं बचपनमें जो था, वही मैं आज हूँ। बचपनसे लेकर आजतक हमारे शरीरमें इतना फर्क पड़ गया कि पहचान भी नहीं सकते, फिर भी हम वही हैं। बचपनमें मैं खेला करता था, बादमें पढ़ता था, वही मैं आज हूँ। शरीर वही नहीं है। शरीर तो एक क्षण भी नहीं रहता, निरन्तर बदलता रहता है। जो नहीं बदलता, वही साधक है। बदलनेवाला साधक नहीं है।

साधक योगभ्रष्ट होता है तो वह दूसरे जन्ममें श्रीमानोंके घर जन्म लेता है अथवा योगियोंके घर जन्म लेता है। शरीर तो मर गया, जला दिया गया, फिर श्रीमानों अथवा योगियोंके घर कौन जन्म लेगा? वही जन्म लेगा, जो शरीरसे अलग है। इसलिये आप इस बातको दृढ़तासे स्वीकार कर लें कि हम शरीर नहीं हैं, प्रत्युत शरीरको जाननेवाले हैं। इस बातको स्वीकार किये बिना साधन बढ़िया नहीं होगा, सत्संगकी बातें ठीक

---

* **मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।** (गीता ९। ४)
'यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है।'

समझमें नहीं आयेंगी।

शरीर तो प्रतिक्षण बदलता है, पर आप महासर्ग और महाप्रलय होनेपर भी नहीं बदलते, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों एकरूप रहते हैं— **'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।'** (गीता १४। २)।

आपने अबतक कई शरीर धारण किये, पर सब शरीर छूट गये, आप वही रहे। शरीर तो यहीं छूट जायगा, पर स्वर्ग या नरकमें आप जाओगे, मुक्ति आपकी होगी, भगवान्‌के धाममें आप पहुँचोगे। तात्पर्य है कि आपकी सत्ता (स्वरूप) शरीरके अधीन नहीं है। अतः शरीरके रहने अथवा न रहनेसे आपकी सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, अनन्त सृष्टियाँ हैं, पर उनका आपपर रत्तीभर भी फर्क नहीं पड़ता। केश-जितनी चीज भी आपतक नहीं पहुँचती। ये सब मन-बुद्धितक ही पहुँचती हैं। प्रकृतिका कार्य मन-बुद्धिसे आगे जा सकता ही नहीं। इसलिये अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी चीज भी आपकी नहीं है। आपके परमात्मा हैं और आप परमात्माके हो। साधन करके आप ही परमात्माको प्राप्त होंगे, शरीर प्राप्त नहीं होगा। इसलिये साधन करते हुए ऐसा मानना चाहिये कि हम निराकार हैं, साकार (शरीर) नहीं हैं। आप मकानमें बैठते हैं तो आप मकान नहीं हो जाते। मकान अलग है, आप अलग हैं। मकानको छोड़कर आप चल दोगे। फर्क आपमें पड़ेगा, मकानमें नहीं। ऐसे ही शरीर यहीं रहेगा, आप चल दोगे। पाप-पुण्यका फल आप भोगोगे, शरीर नहीं भोगेगा। मुक्ति आपकी होगी, शरीरकी नहीं होगी। शरीर तो मिट्टी हो जायगा, पर आप मिट्टी नहीं होंगे। आपका स्वरूप गीताने इस प्रकार बताया है—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

(२। २४-२५)

'यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।'

'यह देही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और यह निर्विकार कहा जाता है। अतः इस देहीको ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिये।'

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं कभी मरूँ नहीं, मैं सब कुछ जान जाऊँ और मैं सदा सुखी रहूँ। ये तीनों इच्छाएँ मूलमें सत्, चित् और आनन्दकी इच्छा है। परन्तु वह इस वास्तविक इच्छाको शरीरकी सहायतासे पूरी करना चाहता है; क्योंकि स्वयं परमात्माका अंश होते हुए भी वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना मान लेता है*। परन्तु वास्तवमें मनुष्य अपनी वास्तविक इच्छाको शरीर अथवा संसारकी सहायतासे पूरी कर ही नहीं सकता। कारण कि शरीर नाशवान् है, इसलिये उसके द्वारा कोई मरनेसे नहीं बच सकता। शरीर जड़ है, इसलिये उसके द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर प्रतिक्षण बदलनेवाला है, इसलिये उसके

---

* ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५। ७)

द्वारा कोई सुखी नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्यमें जो सत्-चित्-आनन्दकी इच्छा है, उसकी पूर्ति शरीरसे असंग (सम्बन्ध-रहित) होनेपर ही हो सकती है। इस वास्तविक इच्छाकी पूर्तिमें शरीर लेशमात्र भी साधक अथवा बाधक नहीं है, प्रत्युत शरीरका सम्बन्ध ही इसमें बाधक है। इसलिये शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक क्रिया और पदार्थसे असंग हो जाता है। क्रिया और पदार्थ—दोनों प्रकृतिके कार्य हैं। क्रिया और पदार्थसे असंग होनेपर साधककी वास्तविक इच्छा पूरी हो जाती है। वास्तविक इच्छाकी पूर्ति होनेपर साधककी सत्-चित्-आनन्दरूप स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। स्वरूपमें स्थिति होनेपर लौकिक साधना (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग)-की सिद्धि हो जाती है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माको अपना माननेसे, उसके शरणागत होनेसे अलौकिक साधना (भक्तियोग)-की सिद्धि हो जाती है अर्थात् परम प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। परम प्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्णता है*। इसलिये साधकको आरम्भसे ही इस सत्यको स्वीकार कर लेना चाहिये कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। कारण कि मैं परा प्रकृति (चेतन) हूँ, जो कि परमात्माका अंश है और शरीर-संसार अपरा प्रकृति (जड़) है। अपरा प्रकृति अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी हमारी वास्तविक इच्छाकी पूर्ति नहीं कर सकती अर्थात् हमें अमर नहीं बना सकती, हमारा अज्ञान नहीं मिटा सकती और हमें सदाके लिये सुखी नहीं कर सकती।

* लौकिक साधनाकी सिद्धिमें तो अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध रह सकती है, पर अलौकिक साधनाकी सिद्धिमें अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं रहती।

प्रश्न—सत्संगमें ऐसी बातें सुनते हुए भी जब व्यवहार करते हैं, तब राजी-नाराज हो जाते हैं, क्या करें?

उत्तर—व्यवहारमें राजी-नाराज हो जाते हैं तो यह बालकपना है। बच्चे खेलते हैं तो वे मिट्टी इकट्ठी करके पहाड़, मकान आदि बना देते हैं और उसमें लाइन खींच देते हैं कि इतनी जमीन मेरी है, इतनी तुम्हारी है। दूसरा बच्चा जमीन ले लेता है तो लड़ने लग जाते हैं कि तुमने हमारी जमीन कैसे ले ली? यह तुम्हारी नहीं, हमारी है। कोई बड़ा आदमी आकर कहता है कि 'बच्चो! लड़ते क्यों हो?' वे कहते हैं कि हमने पहले लकीर खींची है, इसलिये यह हमारी है। वह आदमी कहता है कि अच्छा, तुम ऐसा-ऐसा कर दो तो दोनों राजी हो जाते हैं। इतनेमें माँ बुलाती है कि 'अरे बच्चो! आओ, भोजनका समय हो गया' तो बच्चे झट उठकर चल देते हैं। अब उनका जमीनसे कोई मतलब नहीं! इसी तरह हम कहते हैं कि धन-सम्पत्ति हमारी है, जमीन हमारी है आदि। वास्तवमें न हमारी है, न तुम्हारी है। यह तो खेल है, तमाशा है! एक दिन धन-सम्पत्ति, जमीन आदि सबको छोड़कर जाना पड़ेगा। इनकी यादतक नहीं रहेगी। पिछले जन्ममें हमारा कौन-सा घर था, कौन-सा कुटुम्ब था, अब याद है क्या? इस संसारकी कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। जैसे धर्मशाला सबके लिये होती है, ऐसे ही यह संसार सबके लिये है। इसलिये मकान वही रहते हैं, जमीन वही रहती है, पर आदमी बदलते रहते हैं। इन बातोंकी तरफ आपका ध्यान जाना चाहिये। सत्संग करनेवालोंका इन बातोंकी तरफ ध्यान नहीं जायगा तो फिर किसका जायगा? सत्संग भी करते हो और राग-द्वेष भी करते हो तो वास्तवमें सत्संग किया ही नहीं, सत्संग सुना ही नहीं, सत्संग समझा ही

नहीं, सत्संगकी हवा ही नहीं लगी! सत्संगमें राग-द्वेष, काम-क्रोध कम नहीं होंगे तो फिर कैसे कम होंगे? यदि आपके भावोंमें, आचरणोंमें फर्क नहीं पड़ा तो सत्संग क्या किया! कोरा समय खराब किया! सत्संग करे और फर्क नहीं पड़े—यह हो ही नहीं सकता। सत्संग करेगा तो फर्क जरूर पड़ेगा। फर्क नहीं पड़ा तो असली सत्संग मिला नहीं है। असली सत्संग मिले तो फर्क पड़े बिना रह सकता ही नहीं।

७. अभिमान कैसे छूटे ?

अभिमानके विषयमें रामायणमें आया है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस ७। ७४। ३)

जितनी भी आसुरी-सम्पत्ति है, दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब अभिमानकी छायामें रहते हैं। मैं हूँ—इस प्रकार जो अपना होनापन (अहंभाव) है, वह उतना दोषी नहीं है, जितना अभिमान दोषी है। भगवान्‌का अंश भी निर्दोष है। परन्तु मेरेमें गुण हैं, मेरेमें योग्यता है, मेरेमें विद्या है, मैं बड़ा चतुर हूँ, मैं वक्ता हूँ, मैं दूसरोंको समझा सकता हूँ—इस प्रकार दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें जो विशेषता दीखती है, यह बहुत दोषी है। अपनेमें विशेषता चाहे भजन-ध्यानसे दीखे, चाहे कीर्तनसे दीखे, चाहे जपसे दीखे, चाहे चतुराईसे दीखे, चाहे उपकार (परहित) करनेसे दीखे, किसी भी तरहसे दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दीखती है तो यह अभिमान है। यह अभिमान बहुत घातक है और इससे बचना भी बहुत कठिन है।

अभिमान जातिको लेकर भी होता है, वर्णको लेकर भी होता है, आश्रमको लेकर भी होता है, विद्याको लेकर भी होता है, बुद्धिको लेकर भी होता है। कई तरहका अभिमान होता है। मेरेको गीता याद है, मैं गीता पढ़ा सकता हूँ, मैं गीताके भाव विशेषतासे समझता हूँ—यह भी अभिमान है। अभिमान बड़ा पतन करनेवाला है। जो श्रेष्ठता है, उत्तमता है, विशेषता है, उसको अपना मान लेनेसे ही अभिमान आता है। यह अभिमान अपने उद्योगसे दूर नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही दूर होता है। अभिमानको दूर करनेका

ज्यों-ज्यों उद्योग करते हैं, त्यों-त्यों अभिमान दृढ़ होता है। अभिमानको मिटानेका कोई उपाय करें तो वह उपाय ही अभिमान बढ़ानेवाला हो जाता है। इसलिये अभिमानसे छूटना बड़ा कठिन है! साधकको इस विषयमें बहुत सावधान रहना चाहिये।

साधकको इस बातका खयाल रखना चाहिये कि अपनेमें जो कुछ विशेषता आयी है, वह खुदकी नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌से आयी है। इसलिये उस विशेषताको भगवान्‌की ही समझे, अपनी बिलकुल न समझे। अपनेमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह प्रभुकी दी हुई है—ऐसा दृढ़तापूर्वक माननेसे ही अभिमान दूर हो सकता है।

मैं जैसा कीर्तन करता हूँ, वैसा दूसरा नहीं कर सकता; दूसरे इतने हैं, पर मेरे जैसा करनेवाला कोई नहीं है—इस प्रकार जहाँ दूसरेको अपने सामने रखा कि अभिमान आया! साधकको ऐसा मानना चाहिये कि मैं करनेवाला नहीं हूँ, प्रत्युत यह तो भगवान्‌की कृपासे हो रहा है। जो विशेषता आयी है, वह मेरी व्यक्तिगत नहीं है। अगर व्यक्तिगत होती तो सदा रहती, उसपर मेरा अधिकार चलता। ऐसा माननेसे ही अभिमानसे छुटकारा हो सकता है।

भगवान्‌की कृपा है कि वे किसीका अभिमान रहने नहीं देते। इसलिये अभिमान आते ही उसमें टक्कर लगती है। भगवान् विशेष कृपा करके चेताते हैं कि तू कुछ भी अपना मत मान, तेरा सब काम मैं करूँगा। भगवान् अभिमानको तोड़ देते हैं, उसको ठहरने नहीं देते—यह उनकी बड़ी अलौकिक, विचित्र कृपा है।

जिसमें अभिमान रह जाता है, वह राक्षस हो जाता है। हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण, दन्तवक्त्र, शिशुपाल आदि सबमें अभिमान था। अभिमानके कारण वे किसीको नहीं गिनते।

भगवान्‌को भी नहीं गिनते! उनके अभिमानको दूर करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं और कृपा करके उनका नाश करते हैं। वास्तवमें भगवान् मनुष्यको नहीं मारते हैं, प्रत्युत उसके अभिमानको मारते हैं। जैसे फोड़ा हो जाता है तो वैद्यलोग पहले उसको पकाते हैं, फिर चीरा लगाते हैं। ऐसे ही भगवान् पहले अभिमानको बढ़ाते हैं, फिर उसका नाश करते हैं। इस विषयमें वे किसीका कायदा नहीं रखते।

भगवान्‌का स्वभाव बड़ा विचित्र है। दूसरे मनुष्य तो हमारा कुछ भी उपकार करते हैं तो एहसान जनाते हैं कि तेरेको मैंने ऊँचा बनाया! पर भगवान् सब कुछ देकर भी कहते हैं— *'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि'!* भगवान् यह नहीं कहते कि मैंने तेरेको ऊँचा बनाया है, प्रत्युत खुद उसके दास बन जाते हैं। इतना ही नहीं, भगवान् उसको पता ही नहीं चलने देते कि मैंने तेरेको दिया है। मनुष्यके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का ही दिया हुआ है। वे इतना छिपकर देते हैं कि मनुष्य इन वस्तुओंको अपना ही मान लेता है कि मेरा ही मन है, मेरी ही बुद्धि है, मेरी ही योग्यता है, मेरी ही सामर्थ्य है, मेरी ही समझ है। यह तो देनेवालेकी विलक्षणता है कि मिली हुई चीज अपनी ही मालूम देती है। अगर आँखें अपनी हैं तो फिर चश्मा क्यों लगाते हो? आँखोंमें कमजोरी आ गयी तो उसको ठीक कर लो। शरीर अपना है तो उसको बीमार मत होने दो, मरने मत दो।

देनेवालेकी इतनी विचित्रता है कि वे यह जनाते ही नहीं कि मेरा दिया हुआ है। इसलिये मनुष्य मान लेता है कि मैं समझदार हूँ, मैं वक्ता हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं लेखक हूँ आदि। वह अभिमान

कर लेता है कि मैं इतना जप करता हूँ, इतना भजन करता हूँ, इतना ध्यान करता हूँ, इतना पाठ करता हूँ आदि। विचार करना चाहिये कि यह किस शक्तिसे कर रहा हूँ? यह शक्ति कहाँसे आयी है? अर्जुन वही थे, गाण्डीव धनुष और बाण भी वही थे, पर डाकूलोग गोपियोंको ले गये, अर्जुन कुछ नहीं कर सके— *'काबाँ लूटी गोपिका, वे अर्जुन वे बाण'।* अर्जुनने महाभारत-युद्धमें विजय कर ली तो यह उनका बल नहीं था, प्रत्युत जो उनके सारथि बने थे, उन भगवान् श्रीकृष्णका बल था। गीतामें भगवान्ने कहा भी है— **'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** (गीता ११। ३३) 'ये सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।'

सन्तोंकी वाणीमें एक बड़ी विचित्र बात आयी है कि भगवान्ने संसारको मनुष्यके लिये बनाया और मनुष्यको अपने लिये बनाया। तात्पर्य है कि मनुष्य मेरी भक्ति करेगा तो संसारकी सब वस्तुएँ उसको दूँगा! उसको किसी बातकी कमी रहेगी ही नहीं! सदाके लिये कमी मिट जायगी! पर वह भक्ति न करके अभिमान करने लग गया। अभिमान भगवान्‌को सुहाता नहीं—

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च।

(नारदभक्ति० २७)

'ईश्वरका भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।'

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

(मानस, उत्तर० ७४। ३-४)

भगवान् अभिमानको दूर करते हैं, पर मनुष्य फिर अभिमान

कर लेता है! अभिमान करते-करते उम्र बीत जाती है! इसलिये हरदम 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' पुकारते रहो और भीतरसे इस बातका खयाल रखो कि जो कुछ विशेषता आयी है, भगवान्‌से आयी है। यह अपने घरकी नहीं है। ऐसा नहीं मानोगे तो बड़ी दुर्दशा होगी!

यह मानवजन्म भगवान्‌का ही दिया हुआ है। भगवान्‌ने मनुष्यको तीन शक्तियाँ दी हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। करनेकी शक्ति दूसरोंका हित करनेके लिये दी है, जाननेकी शक्ति अपने-आपको जाननेके लिये दी है और माननेकी शक्ति भगवान्‌को माननेके लिये दी है। परन्तु गलती तब होती है, जब मनुष्य इन तीनों शक्तियोंको अपने लिये लगा देता है। इसीलिये वह दुःख पा रहा है। बल, बुद्धि, योग्यता आदि अपने दीखते ही अभिमान आता है। मैं ब्राह्मण हूँ—ऐसा माननेपर ब्राह्मणपनेका अभिमान आ जाता है। मैं धनवान् हूँ—ऐसा माननेपर धनका अभिमान आ जाता है। मैं विद्वान् हूँ—ऐसा माननेपर विद्याका अभिमान आ जाता है। जहाँ मैंपनका आरोप किया, वहीं अभिमान आ जाता है। इसलिये भीतरसे हरदम भगवान्‌को पुकारते रहो। अपनेमें योग्यता प्रत्यक्ष दीखती है, इसलिये अभिमानसे बचना बहुत कठिन होता है। मनुष्यको प्रत्यक्ष दीखता है कि मैं अधिक पढ़ा-लिखा हूँ, मैं गीता जाननेवाला हूँ, मैं कीर्तन करनेवाला हूँ, इसलिये वह फँस जाता है। अगर यह दीखने लग जाय कि यह सब केवल भगवान्‌की कृपासे हो रहा है तो निहाल हो जाय! ऐसा चेत भी भगवान्‌की कृपासे ही होता है। जिनको चेत न हो, उनपर दया आनी चाहिये। वे भी चेतेंगे, पर देरीसे!

नारदजी महाराज भगवान्‌के भक्त थे, पर उनको भी अभिमान हो गया। इतना अभिमान हो गया कि भगवान्‌को ही शाप दे दिया—

भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी॥

(मानस, बाल० १३७। ३-४)

नारदजीने कहा कि बन्दर आपकी सहायता करेंगे— ***'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी'*** तो यह शाप हुआ कि वरदान? यह तो वरदान हुआ! इसलिये कहा है— ***'साधु ते होइ न कारज हानी'*** (मानस, सुन्दर० ६। २)। शापके कारण भगवान्‌का अवतार हुआ और विविध लीलाएँ हुईं, जिनको गा-गाकर लोगोंका कल्याण हो रहा है। तात्पर्य है कि नारदजीका शाप लोगोंके कल्याणका उपाय हो गया! ऐसे ही भगवान्‌का भी क्रोध वरदानके समान कल्याणकारी होता है— **'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'**। भगवान् और उनके भक्त— दोनों ही बिना हेतु सबका हित करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

इन दोनोंके साथ किसी भी तरहसे सम्बन्ध हो जाय तो लाभ-ही-लाभ होता है। ये सबपर कृपा करते हैं। लोग कहते हैं कि भगवान्‌ने दुःख भेज दिया! पर भगवान्‌के खजानेमें दुःख है ही नहीं, फिर वे कहाँसे दुःख लाकर आपको देंगे? भगवान् और सन्त कृपा-ही-कृपा करते हैं, इसलिये इनका संग छोड़ना नहीं चाहिये।

मनुष्यजन्ममें किये गये पाप चौरासी लाख योनियाँ भोगनेपर

भी सर्वथा नष्ट नहीं होते, बाकी रह जाते हैं। फिर भी भगवान् कृपा करके मनुष्यशरीर दे देते हैं, अपने उद्धारका मौका दे देते हैं। परन्तु मनुष्य मिले हुएको अपना मान लेता है। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुको अपना माननेसे वह वस्तु अशुद्ध हो जाती है। इसलिये शुद्ध करनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, प्रत्युत अपना न माननेसे शुद्ध होता है। अतः सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दो। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिको भगवान्‌का मान लो तो सब शुद्ध निर्मल हो जायँगे। जहाँ अपना माना, वहीं अशुद्ध हो जायँगे और अभिमान आ जायगा।

एक समय बाँकुड़े जिलेमें अकाल पड़ा। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने नियम रख दिया कि कोई भी आदमी आकर दो घण्टे कीर्तन करे और चावल ले जाय। कारण कि अगर उनको पैसा देंगे तो उससे वे अशुद्ध वस्तु खरीदेंगे। इसलिये पैसा न देकर चावल देते थे। इस तरह सौ-सवा सौ जगह ऐसे केन्द्र बना दिये, जहाँ लोग जाकर कीर्तन करते थे और चावल ले जाते थे। एक दिन सेठजी वहाँ गये। रात्रिके समय बंगाली लोग इकट्ठे हुए। उन्होंने सेठजीसे कहा कि महाराज! आपने हमारे जिलेको जिला दिया, नहीं तो बिना अन्नके लोग भूखों मर जाते! आपने बड़ी कृपा की। सेठजीने बदलेमें बहुत बढ़िया बात कही कि आपलोग झूठी प्रशंसा करते हो। हमने मारवाड़से यहाँ आकर जितने रुपये कमाये, वे सब-के-सब लग जायँ, तबतक तो आपकी ही चीज आपको दी है, हमारी चीज दी ही नहीं। हम मारवाड़से लाकर यहाँ दें, तब आप ऐसा कह सकते हो। हमने तो यहाँसे कमाया हुआ धन भी पूरा दिया नहीं है। सेठजीने केवल सभ्यताकी दृष्टिसे यह बात नहीं कही, प्रत्युत हृदयसे यह बात कही। सेठजीके छोटे

भाई हरिकृष्णदासजीसे पूछा गया कि आपने सबको चावल देनेका इतना काम शुरू किया है, इसमें कहाँतक पैसा लगानेका विचार किया है? उन्होंने बड़ी विचित्र बात कही कि जबतक माँगनेवालोंकी जो दशा है—वैसी दशा हमारी न हो जाय, तबतक! कोई धनी आदमी क्या ऐसा कह सकता है? उनके मनमें यह अभिमान ही नहीं है कि हम इतना उपकार करते हैं।

हमलोग विचार ही नहीं करते कि भगवान्‌की हमपर कितनी विलक्षण कृपा है! हम क्या थे, क्या हो गये! भगवान्‌ने कृपा करके क्या बना दिया—इस तरफ देखते ही नहीं, सोचते ही नहीं, समझते ही नहीं। अपने-अपने जीवनको देखें तो मालूम होता है कि हम कैसे थे और भगवान्‌ने कैसा बना दिया! गोस्वामीजीने कहा है—

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

(मानस, बाल० २६)

हौं तो सदा खर को असवार, तिहारोइ नामु गयंद चढ़ायो॥

(कवितावली, उत्तर० ६०)

मैं कितना अयोग्य था, पर आपकी कृपाने कितना योग्य बना दिया! इसलिये भगवान्‌की कृपाकी ओर देखो। हम जो कुछ बने हैं, अपनी बुद्धि, बल, विद्या, योग्यता, सामर्थ्यसे नहीं बने हैं। जहाँ मनमें अपनी बुद्धि, बल आदिसे बननेकी बात आयी, वहीं अभिमान आता है कि हमने ऐसा किया, हमने वैसा किया। इस अभिमानसे बचनेके लिये भगवान्‌को पुकारो। अपने बलसे नहीं बच सकते, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही बच सकते हैं। भगवान्‌की स्मृति समस्त विपत्तियोंका नाश करनेवाली है—

'**हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्**' (श्रीमद्भा० ८। १०। ५५)। इसलिये भगवान्‌को याद करो, भगवान्‌का नाम लो, भगवान्‌के चरणोंकी शरण लो। उनके सिवाय और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। भगवान्‌के बिना संसारमात्र अनाथ है। भगवान्‌के कारणसे ही संसार सनाथ है। चलती चक्कीमें आकर सब दाने पिस जाते हैं, पर जिस कीलके आधारपर चक्की चलती है, उस कीलके पास जो दाने चले जाते हैं, वे पिसनेसे बच जाते हैं— '*कोई हरिजन ऊबरे कील माकड़ी पास*'। इसलिये प्रभुके चरणोंकी शरण लो और प्रभुको पुकारो, इसके सिवाय अभिमानसे बचनेका कोई उपाय नहीं है।
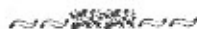
८. साधक, साध्य तथा साधन

एक सत्तामात्रके सिवाय और कुछ नहीं है। उस सत्तामें न 'मैं' है, न 'तू' है, न 'यह' है और न 'वह' है। संसारकी सत्ता हमारी मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। सत्तामात्र 'है' है और संसार 'नहीं' है। 'नहीं' नहीं ही है और 'है' है ही है— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। 'नहीं' का अभाव स्वतः-स्वाभाविक है और 'है' का भाव स्वतः-स्वाभाविक है। वह 'है' ही हमारा साध्य है। जो 'नहीं' है, वह हमारा साध्य कैसे हो सकता है? उस 'है' का अनुभव करना नहीं है, वह तो अनुभवरूप ही है।

तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो साधक वह है, जो साध्यके बिना नहीं रह सकता और साध्य वह है, जो साधकके बिना नहीं रह सकता। साधक साध्यसे अलग नहीं हो सकता और साध्य साधकसे अलग नहीं हो सकता। कारण कि साधक और साध्यकी सत्ता एक ही है। 'है' से अलग कोई हो सकता ही नहीं। इसलिये अगर हम साधक हैं तो साध्यकी प्राप्ति तत्काल होनी चाहिये। साधक वही है, जो साध्यके बिना अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न करे। वह साध्यके सिवाय किसीका आश्रय न ले, न पदार्थका, न क्रियाका।

जो साध्यके बिना रहे, वह साधक कैसा और जो साधकके बिना रहे, वह साध्य कैसा? जो माँके बिना रह सके, वह बच्चा कैसा और जो बच्चेके बिना रह सके, वह माँ कैसी? हमारा साध्य हमारे बिना नहीं रह सकता, रहनेकी ताकत ही नहीं; क्योंकि

मूलमें सत्ता एक ही है। जैसे समुद्र और लहरमें एक ही जल-तत्त्वकी सत्ता है, ऐसे ही साधक और साध्यमें एक ही सत्ता है। लहररूपसे केवल मान्यता है। जबतक लहररूप शरीर (जड़ता)-से सम्बन्ध है, तबतक साधक है। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक नहीं रहता, केवल साध्य रहता है।

अगर साधक साध्यके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि वह साध्यके सिवाय अन्य (भोग तथा संग्रह)-का भी साधक है। उसने अपने मनमें दूसरेको भी सत्ता दी है। अगर साध्य साधकके बिना रहता है तो समझना चाहिये कि साध्यके सिवाय साधकका अन्य भी कोई साध्य है अर्थात् भोग तथा संग्रह भी साध्य है। हृदयमें नाशवान्‌का जितना महत्त्व है, उतनी ही साधकपनेमें कमी है। साधकपनेमें जितनी कमी रहती है, उतनी ही साध्यसे दूरी रहती है। पूर्ण साधक होनेपर साध्यकी प्राप्ति हो जाती है।

शरीरको मैं, मेरा तथा मेरे लिये माननेसे ही साधकको साध्यकी अप्राप्ति दीखती है। साध्यके सिवाय अन्यकी सत्ता स्वीकार न करना ही उसकी प्राप्तिका बढ़िया उपाय है। इसलिये साधककी दृष्टि केवल इस तरफ रहनी चाहिये कि संसार नहीं है। संसारका पहले भी अभाव था, बादमें भी अभाव हो जायगा और बीचमें भी वह प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। संसारकी स्थिति है ही नहीं। उत्पत्ति-प्रलयकी धारा ही स्थितिरूपसे दीखती है।

साधकके लिये साध्यमें विश्वास और प्रेम होना बहुत जरूरी है। विश्वास और प्रेम उसी साध्यमें होना चाहिये, जो विवेक-विरोधी न हो। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुमें विश्वास और प्रेम करना विवेक-विरोधी है। विश्वास और प्रेम—दोनोंमें कोई एक

भी हो जाय तो दोनों स्वतः हो जायँगे। विश्वास दृढ़ हो जाय तो प्रेम अपने-आप हो जायगा। अगर प्रेम नहीं होता तो समझना चाहिये कि विश्वासमें कमी है अर्थात् साध्य (परमात्मा)-के विश्वासके साथ संसारका विश्वास भी है। पूर्ण विश्वास होनेपर एक सत्ताके सिवाय अन्य (संसार)-की सत्ता ही नहीं रहेगी। साध्यमें विश्वासकी कमी होगी तो साधनमें भी विश्वासकी कमी होगी अर्थात् साध्यके सिवाय अन्य इच्छाएँ भी होंगी। जितनी दूसरी इच्छा है, उतनी ही साधनमें कमी है।

सम्पूर्ण इच्छाओंके मूलमें एक परमात्माकी ही इच्छा है। उसीपर सम्पूर्ण इच्छाएँ टिकी हुई हैं। हमसे भूल यह होती है कि अपनी इस स्वाभाविक (परमात्माकी) इच्छाको हम शरीरकी सहायतासे पूरी करना चाहते हैं। वास्तवमें परमात्माकी प्राप्तिमें शरीर अथवा संसारकी किंचिन्मात्र भी जरूरत नहीं है। परमात्मा अपनेमें हैं; अतः कुछ न करनेसे ही उनका अनुभव होगा। कुछ करनेके लिये तो शरीरकी आवश्यकता है, पर कुछ न करनेके लिये शरीरकी क्या आवश्यकता है? कुछ देखनेके लिये नेत्रोंकी आवश्यकता है, पर कुछ न देखनेके लिये नेत्रोंकी क्या आवश्यकता है? हाँ, नामजप, कीर्तन आदि साधन अवश्य करने चाहिये; क्योंकि इनको करनेसे कुछ न करनेकी सामर्थ्य आती है।

हम परमात्माके अंश हैं, इसलिये हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ ही है। हमारा सम्बन्ध न तो शरीरके साथ है और न शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंके साथ है। हम परमात्माके हैं—इस सत्यपर साधकको दृढ़ विश्वास करना चाहिये। अगर दृढ़ विश्वास न कर सके तो भगवान्‌से माँगे। हम शरीर-संसारके हैं—यह भूल है। भूलको भूल समझनेमें देरी

लगती है, पर भूल समझनेपर फिर भूल मिटनेमें देरी नहीं लगती।

यह नियम है कि परमात्माकी प्राप्ति असत् (पदार्थ और क्रिया)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत असत्के सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये साधकको तीन बातोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता है—

१. मेरा कुछ भी नहीं है।

२. मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

३. मैं कुछ नहीं हूँ।

अब इन तीन बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। पहली बात है—मेरा कुछ भी नहीं है। इसको स्वीकार करनेके लिये साधकको इस बातका मनन करना चाहिये कि हम अपने साथ क्या लाये हैं और अपने साथ क्या ले जायँगे? मनन करनेसे साधकको पता लगेगा कि हम अपने साथ कुछ लाये नहीं और अपने साथ कुछ ले जा सकते नहीं। तात्पर्य यह निकला कि जो वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। जो वस्तु आने और जानेवाली है, वह हमारी नहीं हो सकती। कारण कि स्वयं मिलने-बिछुड़नेवाला, उत्पन्न-नष्ट होनेवाला, आने-जानेवाला नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तिल-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है।

दूसरी बात है—मेरेको कुछ नहीं चाहिये। साधकको विचार करना चाहिये कि जब संसारमें कोई वस्तु मेरी है ही नहीं, तो फिर मेरेको क्या चाहिये? शरीरको अपना माननेसे ही चाह पैदा होती है कि हमें रोटी चाहिये, जल चाहिये, कपड़ा चाहिये, मकान चाहिये आदि-आदि। साधक इस बातपर विचार करे कि

शरीरसे अलग होकर मेरेको क्या चाहिये? तात्पर्य है कि जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरा कुछ भी नहीं है, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये।

तीसरी बात है—मैं कुछ नहीं हूँ। शरीर और संसारको तो सब देखते हैं, पर 'मैं' को किसीने नहीं देखा है। शरीरकी प्रतीति होती है और स्वयंका अनुभव होता है, पर 'मैं' की न तो प्रतीति होती है और न अनुभव ही होता है। 'मैं' का भान होता है। जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये, तब वह इस सत्यको स्वीकार करनेमें समर्थ हो जाता है कि 'मैं' कुछ नहीं है। जिसमें संसारकी ममता और परमात्माकी जिज्ञासा है, उसको 'मैं' कह देते हैं, पर वास्तवमें 'मैं' कुछ नहीं है। सुषुप्तिमें स्वयं तो रहता है, पर 'मैं' नहीं रहता। सुषुप्तिमें स्वयंके भावका और 'मैं' के अभावका अनुभव सबको होता है।

मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये—इन दो बातोंकी सिद्धि होते ही 'मैं' सत्तामात्रमें अर्थात् 'है' में विलीन हो जाता है। तात्पर्य है कि चेतन-अंश चेतन-तत्त्वमें और जड़-अंश जड़में विलीन हो जाता है। फिर एक सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं रहता।

प्रकृतिका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। शरीरादि पदार्थोंका आश्रय 'पराश्रय' है और क्रियाका आश्रय 'परिश्रम' है। परमात्मप्राप्तिके लिये क्रिया और पदार्थकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। संसारमें तो 'करना' मुख्य है, पर परमात्मामें 'न करना' ही मुख्य है। शरीर और संसारकी सहायतासे

परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। जो तत्त्व सब जगह परिपूर्ण है, उसकी प्राप्ति 'करने' से कैसे होगी? करनेसे तो उलटे वह दूर होगा!

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, बल आदि सब प्रकृतिके हैं। इनका आश्रय लेना प्रकृतिका आश्रय है। प्रकृतिका आश्रय रखनेपर परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? शरीर प्रकृतिका होनेसे हमारा नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है। इसलिये शरीरके द्वारा जो कुछ भी किया जाय, वह केवल संसारके लिये ही किया जाना चाहिये। शरीरसे जप, ध्यान, पूजन, तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ भी किया जाय, वह इस भावसे किया जाय कि दूसरोंका हित हो। अपने लिये कुछ भी करना भोग है, योग नहीं। तात्पर्य हुआ कि शरीर संसारका अंश है, इसलिये शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया संसारके लिये ही है, हमारे लिये नहीं। हमारे लिये केवल परमात्मा हैं; क्योंकि हम उन्हींके अंश हैं। अतः पराश्रय और परिश्रम भोग है। जो पराश्रयको छोड़कर भगवदाश्रयको अपनाता है और परिश्रमको छोड़कर विश्रामको अपनाता है, वह योगी होता है। परन्तु जो पराश्रय और परिश्रमको अपनाता है, वह भोगी होता है।

पराश्रय और परिश्रममें सभी पराधीन हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राममें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं। पराश्रय और परिश्रम तो संसारके लिये हैं, पर भगवदाश्रय और विश्राम अपने लिये हैं। साधकको अपनेमें जितनी कमी दीखती है, उतना ही पराश्रय और परिश्रम है। भगवदाश्रय और विश्रामके आते ही मानव-जीवन पूर्ण हो जाता है। कारण कि एक भगवान्‌के सिवाय और कोई ऐसा नहीं है, जो सदा हमारे साथ रहे, कभी हमसे बिछुड़े नहीं। संसारकी प्राप्तिके लिये क्रिया है और परमात्माकी प्राप्तिके लिये

विश्राम है। क्रियासे शक्तिका ह्रास होता है और अक्रियता अर्थात् विश्रामसे शक्तिका संचय होता है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण शक्तियाँ अक्रिय-तत्त्वसे ही प्रकट होती हैं। मनुष्य दिनभर परिश्रम करके रातको सोता है तो निद्रासे उसकी थकावट मिट जाती है और पुनः कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु निद्राका सुख तामस होता है— '**निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्**' (गीता १८। ३९)। अपने लिये विश्राम करना अर्थात् कुछ न करना भोग है, पर परमात्माके लिये विश्राम करना साधन है; क्योंकि परमात्मा परम विश्राम-स्वरूप हैं। अतः विश्राम अपने लिये न होकर परमात्माके लिये होना चाहिये। नित्य परमात्मसत्तामें निरन्तर स्थित रहना ही परमात्माके लिये विश्राम करना है। परमात्माके लिये होनेवाला विश्राम तामस नहीं होता, प्रत्युत सात्त्विक होकर गुणातीत हो जाता है। इसलिये साधकके लिये सबसे मूल्यवान् वस्तुएँ दो ही हैं— भगवदाश्रय और विश्राम। भगवदाश्रय और विश्रामसे पारमार्थिक इच्छा पूरी हो जाती है और सांसारिक इच्छाएँ मिट जाती हैं। अगर साधकका भगवान्‌पर विश्वास न हो, प्रत्युत अपनेपर विश्वास हो तो वह स्वाश्रयको अपना सकता है। अगर साधकका न तो भगवान्‌पर विश्वास हो, न अपनेपर विश्वास हो तो वह धर्मका अर्थात् कर्तव्यका आश्रय अपना सकता है। मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं— यह भगवान्‌का आश्रय है। मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये— यह 'स्व' का आश्रय है। पदार्थ और क्रिया केवल दूसरोंके हितके लिये है— यह धर्मका आश्रय है। भगवान्‌का आश्रय 'भक्तियोग' है। 'स्व' का आश्रय 'ज्ञानयोग' है। धर्मका आश्रय 'कर्मयोग' है। यद्यपि तीनों ही योगमार्गोंसे पदार्थ और क्रियारूप प्रकृतिका आश्रय छूट जाता है और

सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है, तथापि इन तीनोंमें भगवान्‌का आश्रय सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि मूलमें हम भगवान्‌के ही अंश हैं। भगवदाश्रयसे मुक्तिके साथ-साथ भक्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है, जो मानवजीवनका चरम लक्ष्य है।

एक 'है' (सत्तामात्र)-के सिवाय और कुछ नहीं है—ऐसा जाननेसे मुक्ति हो जाती है और वह 'है' अपना है—ऐसा माननेसे भक्ति हो जाती है। वास्तवमें जो 'है', वही अपना हो सकता है। जो 'नहीं' है, वह अपना कैसे हो सकता है? अगर साधक असत्‌की सत्ता ही स्वीकार न करे और अपना कोई आग्रह न रखे तो भक्ति अपने-आप होती है।

९. साधक कौन?

भगवान् कहते हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त (निराकार)-स्वरूपसे व्याप्त है।' जिसकी आकृति होती है, उसको 'मूर्ति' कहते हैं और जिसकी कोई भी आकृति नहीं होती, उसको 'अव्यक्तमूर्ति' कहते हैं। जैसे भगवान् अव्यक्तमूर्ति हैं, ऐसे ही साधक भी अव्यक्तमूर्ति होता है—'**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते**' (गीता २। २५)।

साधक शरीर नहीं होता—ऐसी बात ग्रन्थोंमें आती नहीं, पर वास्तवमें बात ऐसी ही है। साधक भावशरीर होता है। वह योगी होता है, भोगी नहीं होता। भोग और योगका आपसमें विरोध है। भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। साधक कोई भी काम भोगबुद्धि अथवा सुखबुद्धिसे नहीं करता, प्रत्युत योगबुद्धिसे करता है। समताका नाम 'योग' है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। समता भाव है। अतः साधक भावशरीर होता है।

स्थूलशरीर प्रतिक्षण बदलता है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिस क्षणमें शरीरका परिवर्तन न होता हो। परमात्माकी दो प्रकृतियाँ हैं। शरीर अपरा प्रकृति है और जीव परा प्रकृति है। परा प्रकृति अव्यक्त है और अपरा प्रकृति व्यक्त है। सम्पूर्ण प्राणी पहले अव्यक्त हैं, बीचमें व्यक्त हैं और अन्तमें अव्यक्त हैं*। स्वप्न आता

---

* **अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥**

(गीता २। २८)

है तो पहले जाग्रत् है, बीचमें स्वप्न है और अन्तमें जाग्रत् है। जैसे मध्यमें स्वप्न है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी मध्यमें व्यक्त हैं।

यह सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता—'**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**' (माण्डूक्यकारिका २। ६, ४। ३१)। प्राणी आदिमें और अन्तमें अव्यक्त हैं; अतः बीचमें व्यक्त दीखते हुए भी वे वास्तवमें अव्यक्त ही हैं। व्यक्तमें दो व्यक्ति भी एक (समान) नहीं होते, पर अव्यक्तमें सब-के-सब एक हो जाते हैं। अतः अव्यक्तमें सबको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जो सबको प्राप्त हो सकता है, वही परमात्मा होता है। जो किसीको प्राप्त होता है, किसीको प्राप्त नहीं होता, वह परमात्मा नहीं होता, प्रत्युत संसार होता है। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति अव्यक्तको होती है और अव्यक्तमें होती है।

अव्यक्त ही साधक होता है। व्यक्त साधक नहीं होता। व्यक्त तो एक क्षण भी नहीं ठहरता। '**प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः**' 'चितिशक्ति' (चेतन शक्ति)-को छोड़कर सभी भाव प्रतिक्षणपरिणामी हैं अर्थात् एक क्षण भी स्थिर रहनेवाले नहीं हैं। विचार करें, जब हमने माँसे जन्म लिया था, उस समय हमारे शरीरका क्या रूप था और आज क्या रूप है? विचार करनेपर यह मानना ही पड़ेगा कि शरीर-संसार प्रतिक्षण बदलते हैं। बदलनेके पुंजका नाम ही संसार है। जो बदलता है, वह साधक कैसे हो सकता है? साधक वही होता है, जो बदलता नहीं। साधकको सिद्धि होती है तो शरीर सिद्ध नहीं होता। सिद्ध तो अशरीरी होता है। इसलिये साधकको सबसे पहले यह बात मान लेनी चाहिये कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, चाहे

समझमें आये या न आये।

ज्ञानमार्गमें पहले साधक समझता है, फिर वह मान लेता है। भक्तिमार्गमें पहले मानता है, फिर समझ लेता है। तात्पर्य है कि ज्ञानमें विवेक मुख्य है और भक्तिमें श्रद्धा-विश्वास। ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गमें यही फर्क है। दोनों मार्गोंमें एक-एक विलक्षणता है। ज्ञानमार्गवाला साधक तो आरम्भसे ही ब्रह्म हो जाता है, ब्रह्मसे नीचे उतरता ही नहीं, पर भक्त सिद्ध हो जानेपर, परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर भी ब्रह्म नहीं होता, प्रत्युत ब्रह्म ही उसके वशमें हो जाता है! गोस्वामीजी महाराजने सब ग्रन्थ लिखनेके बाद अन्तमें विनयपत्रिकाकी रचना की। उसमें वे छोटे बच्चेकी तरह सीता माँसे कहते हैं—

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥ १॥
दीन, सब अँगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥ २॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥ ३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥ ४॥

तात्पर्य है कि सिद्ध, भगवत्प्राप्त होनेपर भी भक्त अपनेको सदा छोटा ही समझते हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो ऐसे भक्त ही वास्तवमें ज्ञानी हैं। गीतामें भी भगवान्‌ने गुणातीत महापुरुषको ज्ञानी नहीं कहा, प्रत्युत अपने भक्तको ही ज्ञानी कहा है (गीता ७। १६—१८)। भगवान्‌ने ज्ञानमार्गीको 'सर्ववित्' (सर्वज्ञ) भी नहीं कहा, प्रत्युत भक्तको ही 'सर्ववित्' कहा है— '**स सर्वविद्भजति**

मां सर्वभावेन भारत' (गीता १५। १९)। गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

भक्तिके बिना भीतरका सूक्ष्म मल (अहम्) मिटता नहीं। वह मल मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर दार्शनिकों और उनके दर्शनोंमें मतभेद पैदा करता है। जब वह सूक्ष्म मल मिट जाता है, तब मतभेद नहीं रहता। इसलिये भक्त ही वास्तविक ज्ञानी है।

शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। शरीर पृथ्वीपर ही (माँकि पेटमें) बनता है, पृथ्वीपर ही घूमता-फिरता है और मरकर पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। इसकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—या तो इसकी भस्म हो जायगी, या मिट्टी हो जायगी, या विष्ठा हो जायगी। इसको जला देंगे तो भस्म बन जायगी, पृथ्वीमें गाड़ देंगे तो मिट्टी बन जायगी और जानवर खा लेंगे तो विष्ठा बन जायगी। इसलिये शरीरकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत अव्यक्त स्वरूपकी मुख्यता है—

भूमा अचल शाश्वत अमल सम ठोस है तू सर्वदा।
यह देह है पोला घड़ा बनता बिगड़ता है सदा॥

इसलिये वास्तवमें साधक अव्यक्त होकर ही भगवान्‌का भजन करते हैं। एक पाञ्चभौतिक शरीर होता है और एक अव्यक्त भावशरीर होता है। भजन-ध्यान वास्तवमें भावशरीरसे ही होता है। भजन नाम प्रेमका है— ***'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन'*** (मानस, अरण्य० १० में पाठभेद)। प्रेम भावशरीरसे ही होता है। अत: वास्तवमें अव्यक्तमूर्ति ही भगवान्‌में प्रेम करता है, भगवान्‌का भजन करता है, भगवान्‌में तल्लीन होता है। उसीको

भगवान् मीठे लगते हैं, भगवान्‌की बात अच्छी लगती है, भगवान्‌की लीला अच्छी लगती है, भगवान्‌का नाम अच्छा लगता है।

भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव अनादिकालसे मेरा ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५। ७)। यहाँ '**मम एव अंशः**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे शरीरमें माता-पिता दोनोंका अंश है, ऐसे जीवमें प्रकृतिका अंश नहीं है, प्रत्युत केवल मेरा ही अंश है। प्रकृतिका अंश शरीर तो प्रकृतिमें ही स्थित रहता है, पर जीव परमात्माका अंश होते हुए भी परमात्मामें स्थित नहीं रहता। वह अपने-आपको संसारमें स्थित मानता है, भगवान्‌में स्थित नहीं मानता। वह प्रकृतिमें स्थित शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको अपना स्वरूप मान लेता है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**'। इसलिये 'मैं शरीरसे रहित हूँ'—यह बात उसकी समझमें नहीं आती। मनुष्यकी सबसे बड़ी कोई भूल है तो यही है कि वह प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरको अपना स्थायी रूप मान लेता है।

भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें शरीर और शरीरी (शरीरवाले)-का वर्णन किया है, जिसका तात्पर्य साधकमात्रको यह बताना है कि तुम शरीर नहीं हो। वास्तवमें साधक न शरीर है और न शरीरी ही है। साधकका स्वरूप सत्तामात्र है, पर समझानेकी दृष्टिसे भगवान्‌ने स्वरूपको 'शरीरी' नामसे कहा है। कारण कि संसारमें जैसे धनके सम्बन्धसे मनुष्य 'धनी' कहलाता है, ऐसे ही शरीरके सम्बन्धसे स्वरूप 'शरीरी' कहलाता है। जैसे धनका सम्बन्ध न रहनेपर धनी (मनुष्य) तो रहता है, पर उसका नाम 'धनी' नहीं रहता, ऐसे ही शरीरका सम्बन्ध न रहनेपर शरीरी

(स्वरूप) तो रहता है, पर उसका नाम 'शरीरी' नहीं रहता। इसी तरह एक ही स्वरूप क्षेत्रके सम्बन्धसे 'क्षेत्रज्ञ', दृश्यके सम्बन्धसे 'द्रष्टा' और साक्ष्यके सम्बन्धसे 'साक्षी' कहलाता है। पर वास्तवमें स्वरूप न शरीर है, न शरीरी है; न क्षेत्र है, न क्षेत्रज्ञ है; न दृश्य है, न द्रष्टा है; न साक्ष्य है, न साक्षी है, प्रत्युत चिन्मय सत्तामात्र है।

यहाँ एक बात विशेष समझनेकी है कि जैसे धनके कारण धनी है, ऐसे शरीरके कारण शरीरी नहीं है। कारण कि जैसे धन और धनी—दोनों एक जातिके हैं, ऐसे शरीर और शरीरी—दोनों एक जातिके नहीं हैं। जैसे धनीका धनमें आकर्षण होता है, ऐसे शरीरीका शरीरमें कभी आकर्षण नहीं होता, प्रत्युत आकर्षणकी मान्यता होती है। धनीमें तो धनकी मुख्यता है, पर शरीरीमें शरीरकी मुख्यता है ही नहीं। धनके विकार तो धनीमें आते हैं, पर शरीरके विकार शरीरीमें कभी नहीं आते। इसलिये धनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर धनी रोता है; पर शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर शरीरी अखण्ड, अपार, असीम आनन्दका अनुभव करता है। धन और धनीके विवेकसे मुक्ति नहीं होती, पर शरीर और शरीरीके विवेकसे मुक्ति हो जाती है। इसलिये धनके सम्बन्ध-विच्छेदसे धनी मुक्त नहीं होता, प्रत्युत निर्धन अथवा विरक्त हो जाता है, पर शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे शरीरी सदाके लिये मुक्त हो जाता है। कारण कि शरीर संसारका बीज है। अतः जिसका शरीरके साथ सम्बन्ध है, उसका संसारमात्रके साथ सम्बन्ध है। शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

संसारमें हमें दो चीजें दीखती हैं—पदार्थ और क्रिया। ये दोनों

ही प्रकृतिका कार्य हैं। साधारण दृष्टिसे हम लोगोंको संसारमें पदार्थ प्रधान दीखता है, पर वास्तवमें क्रिया प्रधान है, पदार्थ प्रधान नहीं है। पदार्थमें हरदम परिवर्तन-ही-परिवर्तन होता है तो फिर क्रिया ही हुई, पदार्थ कहाँ हुआ? क्रियाका पुंज ही पदार्थरूपसे दीखता है। वह क्रिया भी बदलनेवाली है। ये क्रिया और पदार्थ प्रकृतिका स्वरूप हैं, हमारा स्वरूप नहीं हैं। हमारा स्वरूप क्रिया और पदार्थसे रहित 'अव्यक्त' है। जैसे हम मकानमें बैठे हुए हैं तो मकान अलग है, हम अलग हैं। इसलिये हम मकानको छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे ही हम शरीरमें बैठे हुए हैं। शरीर यहीं पड़ा रहता है, हम चले जाते हैं। मकान पीछे रहता है, हम अलग हो जाते हैं तो वास्तवमें हम पहलेसे ही उससे अलग हैं। ऐसे ही हम शरीरसे अलग हो जाते हैं तो वास्तवमें हम पहलेसे ही शरीरसे अलग हैं। वास्तवमें हम शरीरमें रहते नहीं हैं, प्रत्युत रहना मान लेते हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—**'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्'** (गीता २। १७) 'अविनाशी तो उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।' तात्पर्य है कि स्वरूप सर्वव्यापी है, एक शरीरमें सीमित नहीं है—**'नित्यः सर्वगतः'** (गीता २। २४)। जबतक वह शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह साधक है। शरीरका सम्बन्ध सर्वथा छूटनेपर वह सिद्ध हो जाता है।

शास्त्रमें आता है कि देव होकर देवका भजन करना चाहिये—**'देवो भूत्वा यजेद्देवम्'**। इसलिये अव्यक्त होकर ही अव्यक्त परमात्माका भजन करना चाहिये। शरीर तो क्षण-प्रतिक्षण बदलता है, पर साधक क्षण-प्रतिक्षण बदलनेवाला साधक थोड़े ही है! क्षण-प्रतिक्षण बदलनेवाला मुक्त कैसे होगा? नित्य कैसे होगा?

स्वरूपका विनाश कोई कर सकता ही नहीं— **'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति'** (गीता २। १७), पर शरीर नष्ट हुए बिना रहता ही नहीं। जो अविनाशी होता है, वही मुक्त होता है। विनाशी मुक्त कैसे होगा? बन्धनका वहम (मोह) मिट जाय— इसको मुक्ति कहते हैं। इसलिये एक बार मोह मिटनेपर पुनः मोह नहीं होता— **'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (गीता ४। ३५)। कारण कि मूलमें मोह है नहीं। जो वास्तवमें है नहीं, वही मिटता है। जो है, वह मिटता ही नहीं। सत्का अभाव नहीं होता और जिसका अभाव होता है, वह सत् नहीं होता, प्रत्युत असत् होता है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

शरीर तो भोगायतन है। जैसे रसोईघर भोजन करनेका स्थान है, ऐसे ही शरीर सुख-दुःख भोगनेका स्थान है। सुख-दुःख भोगनेवाला शरीर नहीं होता। भोगनेका स्थान और होता है, भोगनेवाला और होता है। शरीर तो ऊपरका चोला है। हम लाल, काला, सफेद आदि कैसा ही कपड़ा पहनें, वह स्वरूप थोड़े ही होता है! ऐसे ही स्त्री-पुरुष ऊपरका चोला है। स्वरूप न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। परमात्मा, प्रकृति और जीव— ये तीनों ही अलिङ्ग हैं।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार— इन सबके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। जिसके अभावका अनुभव होता है, उससे हम अतीत हैं। हमारी भावरूप सत्ता हरदम रहती है। सुषुप्तिमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार कुछ भी नहीं रहता, सब लीन हो जाते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि सुषुप्तिमें

मैं मर गया था, अब जी गया हूँ। सुषुप्तिमें भी हम रहते हैं, तभी तो हम कहते हैं कि मैं बड़े सुखसे सोया कि कुछ भी पता नहीं था। सुषुप्तिमें भी हमारा होनापन ज्यों-का-त्यों था। कारण कि हमारी सत्ता (होनापन) अहंकारके अधीन नहीं है, बुद्धिके अधीन नहीं है, मनके अधीन नहीं है, इन्द्रियोंके अधीन नहीं है, शरीरके अधीन नहीं है। हमारी सत्ता स्वतन्त्र है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब शरीरोंका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता। इसलिये हमारा स्वरूप निराकार है। साकाररूप शरीर पीछे बनता है और मिट जाता है। हम निराकाररूपसे हैं, पर शरीररूपसे अपनेको साकार मानते हैं। यह मूल भूल है। इस भूलका हमें प्रायश्चित्त करना है। प्रायश्चित्त करनेमें तीन बातें हैं—१-अपनी भूलको स्वीकार करें कि अपनेको शरीर मानकर मैंने भूल की। २-अपनी भूलका पश्चात्ताप करें कि मनुष्य (साधक) होकर मैंने ऐसी भूल की और ३-ऐसा निश्चय करें कि अब आगे मैं कभी भूल नहीं करूँगा अर्थात् अपनेको कभी शरीर नहीं मानूँगा। ये तीन बातें होनेसे प्रायश्चित्त हो जाता है और साधक अपने वास्तविक अव्यक्त स्वरूपमें स्थित हो जाता है।
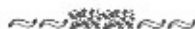
१०. मुक्ति स्वाभाविक है

परमात्मतत्त्व समान रूपसे सबमें परिपूर्ण है। सबमें परिपूर्ण होनेपर भी विलक्षणता यह है कि वह ज्यों-का-त्यों रहता है, जबकि संसारमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। गीतामें आया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

(१३। १९)

'प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही तुम अनादि समझो और विकारोंको तथा गुणोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न समझो।'

यद्यपि प्रकृति और पुरुष—दोनों ही अनादि हैं, तथापि परिवर्तनशील विकार और गुण प्रकृतिसे ही होते हैं। पुरुष (जीवात्मा) अपरिवर्तनशील है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

(गीता १३। २०)

'कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा जाता है।'

पुरुष भोक्तापनमें हेतु तो है, पर क्रियामें हेतु नहीं है। सभी भोग क्रियाजन्य होते हैं। जब पुरुष प्रकृतिमें स्थित होता है, तभी वह भोक्ता होता है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१)। प्रकृतिसे अलग होनेपर पुरुष भोक्ता नहीं होता। यह पुरुषकी विलक्षणता है कि देहमें स्थित होता हुआ भी वह

देहसे पर है अर्थात् देहसे असंग, अलिप्त, असम्बद्ध है— 'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः' (गीता १३। २२)। शरीरके साथ अपनी एकता माननेसे ही वह कर्ता-भोक्ता बनता है, अन्यथा वह कर्ता-भोक्ता है ही नहीं— 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता १३। ३१)। जैसे सूर्य सबको प्रकाशित करता है, पर वह किसी क्रियाका कर्ता नहीं बनता। सूर्यके प्रकाशमें कोई वेद पढ़ता है तो सूर्य उस पुण्यका भागी नहीं होता और कोई शिकार करता है तो सूर्य उस पापका भागी नहीं होता। ऐसे ही पुरुष शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़े तो वह पाप-पुण्यका भागी नहीं होता।

जीवात्माकी प्रकृतिके साथ मानी हुई एकता है और परमात्माके साथ स्वरूपसे एकता है; क्योंकि यह परमात्माका ही अंश है। शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे यह कर्ता-भोक्ता बनता है और जन्म-मरणमें चला जाता है। अगर यह शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़े तो मुक्त हो जाता है। वास्तवमें यह मुक्त ही है। यह स्वतः-स्वाभाविक सबमें परिपूर्ण होते हुए भी अपनेको एक शरीरमें स्थित मान लेता है और जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है। अगर यह अपने निर्विकल्प स्वरूपमें स्थित रहे तो शरीरमें रहता हुआ भी कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। जीवात्मामें निर्लिप्तता स्वाभाविक है और लिप्तता कृत्रिम है। परन्तु निर्लिप्तताकी तरफ उसकी दृष्टि नहीं है। यह मुक्त होता नहीं है, प्रत्युत मुक्त है, पर उस तरफ इसकी दृष्टि नहीं है। जैसे परमात्मा सबमें परिपूर्ण रहते हुए भी कर्ता-भोक्ता नहीं बनते, ऐसे ही सबमें परिपूर्ण रहते हुए भी जीवात्मा कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। जीवात्माका परमात्मासे साधर्म्य है— 'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४। २)। यह साधर्म्य स्वतः-स्वाभाविक है।

उपर्युक्त बातोंसे यह सिद्ध हुआ कि हम अपनेको जो संसारी

आदमी मानते हैं कि हम संसारमें तो हैं और परमात्माको प्राप्त करेंगे, ऐसी बात नहीं है। हम परमात्माको प्राप्त हैं, पर उधर ध्यान न होनेसे हम परमात्माको अप्राप्त मानते हैं। मानी हुई बात मिट जाती है तो मुक्तपना स्वत: रह जाता है। तात्पर्य है कि गलत बात न मानें तो मुक्त होना स्वाभाविक है। बद्ध होना अस्वाभाविक है। परन्तु मनुष्योंने भूलसे मान लिया है कि बद्ध होना स्वाभाविक है और मुक्त होना अस्वाभाविक है, इसलिये मेहनत करेंगे, उद्योग करेंगे, तब मुक्त होंगे, अन्यथा बद्ध ही रहेंगे! मुक्ति स्वाभाविक है, तभी एक बार मुक्त होनेपर फिर पुन: मोह नहीं होता— **'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (गीता ४। ३५)। अगर मनुष्य वास्तवमें मोहित (बद्ध) होता तो फिर सदा मोहित ही रहता। इसलिये वास्तवमें मुक्त ही मुक्त होता है! अगर वह वास्तवमें बद्ध होता तो फिर कभी मुक्त होता ही नहीं। परन्तु मुक्त होता हुआ भी वह अपनेको बद्ध मान लेता है। यह माना हुआ बन्धन मिटनेपर जो मुक्ति स्वत:-स्वाभाविक है, उसका अनुभव हो जाता है।

बद्धावस्थामें भी जीव वास्तवमें लिप्त नहीं है— **'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। बद्धावस्थामें भी वह तटस्थ, अलग है, पर अलगावका अनुभव न करके लिप्तताका अनुभव करता है। इसलिये बद्धपना माना हुआ है और मुक्तपना इसका स्वत: वास्तविक स्वरूप है। जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, उसीको जानना है। उसको जाननेपर फिर मोह नहीं होगा।

बन्धन आगन्तुक है, मुक्ति स्वत:सिद्ध है। हमने अस्वाभाविकको स्वाभाविक और स्वाभाविकको अस्वाभाविक मान लिया है, इसलिये बँधे हुए रहते हैं। वास्तवमें जड़ और चेतनका सम्बन्ध होना असम्भव है। जैसे अन्धकार और प्रकाश आपसमें नहीं मिल

सकते, ऐसे ही जड़ और चेतन आपसमें नहीं मिल सकते। परन्तु चेतनमें यह शक्ति है कि वह जड़को अपने साथ मिला हुआ मान लेता है। चेतन सत्य है, इसलिये वह जो मान्यता कर लेता है, वह भी सत्यकी तरह हो जाती है। यह शक्ति जड़में नहीं है। जड़ने चेतनको अपना नहीं माना है, प्रत्युत चेतनने ही जड़को अपना माना है, तभी वह बद्ध होता है। अगर यह जड़को अपना न माने तो बनावटी बन्धन मिट जायगा और स्वाभाविक मुक्तिका अनुभव हो जायगा। इसलिये मुक्ति सहज है, स्वाभाविक है। बद्धपना बनावटी है, अस्वाभाविक है।

हमारा स्वरूप स्वाभाविक मुक्त है। प्रकृतिमें निरन्तर क्रिया होती है—सर्गावस्थामें भी और प्रलयावस्थामें भी। पर स्वरूपमें कभी क्रिया होती ही नहीं। वह है ज्यों ही रहता है। अनन्त-अनन्त-अनन्त काल बीत जायँ तो भी वह है ज्यों-का-त्यों रहेगा। वह अनेक शरीर धारण करनेपर भी उनसे अलग रहता है। एक दिनमें कई क्रियाएँ करता है, पर स्वयं अलग रहता है। अलग रहनेसे ही वह पहली क्रियाको छोड़कर दूसरी क्रिया पकड़ता है, दूसरीको छोड़कर तीसरी पकड़ता है, तीसरीको छोड़कर चौथी पकड़ता है। अगर स्वरूपमें भी क्रियाशीलता होती तो वह सदा एक ही क्रियामें और एक ही शरीरमें रहता। वह पहली क्रियाको छोड़कर दूसरीको कैसे पकड़ता? एक शरीरको छोड़कर चौरासी लाख योनियोंके दूसरे शरीरोंमें कैसे जाता? सबसे अलग होनेपर भी यह जड़ शरीर, वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़कर बँध जाता है। बँध जानेके बाद फिर छूटना कठिन हो जाता है—

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

(मानस, उत्तर० ११७। २)

वास्तवमें यह बँधा हुआ है ही नहीं। इसलिये मुक्ति स्वाभाविक है—यह बात हरेकको मान लेनी चाहिये। बन्धन अस्वाभाविक है, कृतिसाध्य है। मुक्ति कृतिसाध्य नहीं है।

गीतामें आया है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(३। ५)

'कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिके परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।'

—यह प्रकृतिस्थ पुरुषका वर्णन है। वास्तवमें पुरुष किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कोई कर्म नहीं करता, पर प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेपर वह किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता। प्रकृतिकी क्रिया कभी मिटती ही नहीं और पुरुष (जीवात्मा)-में क्रिया लागू होती ही नहीं। यह स्वतः-स्वाभाविक असंग, निर्लिप्त रहता है। परन्तु प्रकृतिसे सम्बन्ध मानकर इसने मुक्तिको कृतिसाध्य, उद्योगसाध्य मान लिया है।

हम कोई कर्म करें, तभी शरीर काम आता है। कोई भी कर्म न करें तो शरीरका क्या उपयोग है? शरीरसे परिवारकी, समाजकी अथवा संसारकी सेवा कर सकते हैं। अपने लिये शरीर है ही नहीं। स्थूलशरीरसे कोई काम न करें तो स्थूलशरीर निकम्मा है। कोई चिन्तन न करें तो सूक्ष्मशरीर निकम्मा है। स्थिरतामें अथवा समाधिमें न रहें तो कारणशरीर निकम्मा है*। तात्पर्य है कि ये सब क्रियाएँ स्वरूपमें नहीं होतीं, पर मनुष्य इनको अपनेमें

* जब साधक स्थिरतासे भी तटस्थ हो जाता है और स्थिरताका भी साक्षी हो जाता है, तब वह कारणशरीरसे भी अलग हो जाता है, जो उसका वास्तविक स्वरूप है।

मान लेता है। यह मान्यता ही बन्धन है। अपनेको कर्ता माननेसे यह बँध जाता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७) और अपनेको कर्ता न माननेसे यह मुक्त हो जाता है—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५। ८)। जैसे मनुष्य एक लड़कीके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तो उसका पूरे ससुराल (सास-ससुर, साला-साली आदि)-के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। ऐसे ही एक शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंसे सम्बन्ध जुड़ जाता है अर्थात् शरीरसे होनेवाली क्रियाएँ अपनी क्रियाएँ हो जाती हैं। शरीरसे स्वाभाविक अलगावका अनुभव हो जाय तो फिर जन्म-मरण नहीं होता।

शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए मनुष्य कर्म करनेसे भी बँधता है और कर्म न करनेसे भी बँधता है। परन्तु शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह कर्म करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करता—**'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः'** (गीता ४। २०) जैसे, दहीके साथ घी भी रहता है, पर दहीमेंसे घी निकाल दिया जाय तो फिर वह उसमें (छाछमें) नहीं मिलता, अलग हो जाता है। ऐसे ही शरीरसे अलग होनेके बाद फिर स्वयं उससे नहीं मिलता। वास्तवमें वह मिला हुआ होनेपर भी अलग ही है, पर मिला हुआ मान लेता है। तात्पर्य है कि जड़ चेतनतक नहीं पहुँचता, पर चेतन जड़तक पहुँचता है और उसके साथ सम्बन्ध मान लेता है तथा जड़में होनेवाली क्रियाओंको, विकारोंको अपनेमें मान लेता है। अगर सम्बन्ध न माने तो बन्धन है ही नहीं और मुक्ति स्वाभाविक है।

११. हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं

एक बात साधकमात्रके हृदयमें बैठ जानी चाहिये कि हम सब भगवान्‌के पुत्र हैं—'**अमृतस्य पुत्राः**'। कारण कि हम सब भगवान्‌के ही अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**'। हमसे यही गलती होती है कि हम जिनके अंश हैं, उन भगवान्‌को अपना न मानकर जड़ वस्तुओं (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि)-को अपना मान लेते हैं—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। जड़ वस्तुओंको अपना माननेसे ही बन्धन हुआ है। यदि अपना न मानें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। जड़ वस्तु अपनी नहीं है। यदि अपनी होती तो सदा अपने साथ रहती। न शरीर साथ रहेगा, न इन्द्रियाँ साथ रहेंगी, न मन साथ रहेगा, न बुद्धि साथ रहेगी, न प्राण साथ रहेंगे। कोई भी चीज साथमें नहीं रहेगी। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त चीजें हैं, पर उनमेंसे केश-जितनी चीज भी हमारी नहीं है। फिर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण अपने कैसे हुए?

एक वस्तु अपनी होती है और एक वस्तु अपनी मानी हुई होती है। शरीर आदि अपने नहीं हैं, प्रत्युत अपने माने हुए हैं। जैसे कोई खेल होता है तो उस खेलमें कोई राजा बनता है, कोई रानी बनती है, कोई सिपाही बनते हैं तो वे सब माने हुए होते हैं, असली नहीं होते। इसी तरह संसारमें व्यक्ति और पदार्थ केवल व्यवहारके लिये अपने माने हुए होते हैं। वे वास्तवमें अपने नहीं होते। अपना न स्थूलशरीर है, न सूक्ष्मशरीर है, न कारणशरीर है। जब अपना कुछ है ही नहीं तो फिर हमें क्या चाहिये? अपने तो केवल भगवान्

ही हैं। हम उन्हींके अंश हैं। भगवान्‌के सिवाय और कोई भी अपना नहीं है। भगवान्‌के सिवाय जो कुछ है, सब मिला हुआ है और छूटनेवाला है।

विचार करें, आप आये तो कोई वस्तु साथ लाये क्या? और जाते हुए कोई वस्तु साथ ले जाओगे क्या? सब कुछ यहीं पड़ा रहेगा। परन्तु उनको अपने काममें लेते रहनेसे आदत पड़ गयी, जिससे उसकी ममता छोड़ना कठिन हो रहा है। गाढ़ नींदमें आपको इन्द्रियाँ-अन्तःकरणसे कुछ भी अनुभव नहीं होता। इसलिये जगनेपर कहते हैं कि मैं ऐसा सुखसे सोया कि कुछ पता नहीं था अर्थात् सबके अभावका और सुखके भावका अनुभव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंके बिना भी हमें सुखका अनुभव हुआ। कारण यह है कि जीव स्वाभाविक ही सुखरूप है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

जीवमें स्वाभाविक ही सुख है, दुःख है ही नहीं। दुःख-सन्ताप जड़के सम्बन्धसे ही होते हैं। मनमें जो पुरानी बात याद आती है कि बालकपनमें मैं खेलता था, पढ़ता था, जवानीपनमें मैं अमुक कार्य करता था, वह याद आना भी मनमें ही है, हमारेमें नहीं है। जो काम शरीरसे होता है, वह हमारेसे नहीं होता। स्थूल और सूक्ष्म-शरीरसे भोगे गये भोग हमारेमें नहीं हैं। हम उनसे अलग हैं। यह विशेष ध्यान देनेकी बात है। हमारे साथ कोई भी चीज रहनेवाली नहीं है। हम शरीर नहीं हैं, प्रत्युत भगवान्‌के साक्षात् अंश हैं। हमारेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं हैं। गीताने बहुत बढ़िया बात कही है—

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(१३। ३१)

'यह (आत्मा) शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

तात्पर्य है कि कर्तापन और भोक्तापन शरीरमें है, पर हम उसको अपनेमें मान लेते हैं। इसी बातका विवेचन भगवान्‌ने गीतामें आकाश और सूर्यका दृष्टान्त देकर किया है कि जैसे आकाश किसी भी वस्तुसे लिप्त नहीं होता, ऐसे ही आत्मा भी किसी देहसे लिप्त नहीं होती; और जैसे सूर्य तीनों लोकोंको प्रकाशित करता है, ऐसे ही आत्मा सम्पूर्ण शरीरोंको प्रकाशित करती है (गीता १३। ३२-३३)। तात्पर्य है कि सूर्यके प्रकाशमें ही वेदका पाठ होता है और सूर्यके प्रकाशमें ही व्याध शिकार करता है, पर सूर्यको उन क्रियाओंका न पुण्य लगता है, न पाप। कारण कि सूर्य किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं बनता। भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

जैसे आकाश भोक्ता नहीं है, ऐसे ही हम भी भोक्ता नहीं हैं और जैसे सूर्य कर्ता नहीं है, ऐसे ही हम भी कर्ता नहीं हैं। स्वरूपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व है ही नहीं। यह कितनी विलक्षण, अलौकिक, सच्ची बात है! कर्तृत्व और भोक्तृत्व ही संसार है।

कर्तापना और लिप्तपना न हो तो संसार है ही नहीं। स्वयं शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है। यह साधकमात्रके लिये बड़े कामकी बात है। यह भगवान्‌ने हमारी वस्तुस्थिति बतायी है। इसमें कई दिन, कई महीने, कई वर्ष, कई जन्म लगेंगे— यह बात नहीं है। ऐसा नहीं है कि शरीरके मरनेपर मुक्ति होगी। शरीरके रहते हुए भी मुक्ति स्वतः-सिद्ध है— **'शरीरस्थोऽपि'**।

अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला ही अपनेको कर्ता मानता है— **'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। अहंकार अपरा प्रकृति है। परन्तु अहंकारसे मोहित होते हुए भी वास्तवमें वह कर्ता-भोक्ता नहीं है। न तो ब्रह्म कर्ता-भोक्ता है, न जीव कर्ता-भोक्ता है और न आत्मा ही कर्ता-भोक्ता है। कर्ता-भोक्तापन केवल माना हुआ है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि तत्त्ववेत्ता पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा न माने— **'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५। ८)। हम परमात्माके अंश हैं; अतः हम अहंकारसे मोहित नहीं हैं; क्योंकि हम परा प्रकृति हैं और अहंकार अपरा प्रकृति है। अहंकारसे हम मोहित नहीं होते, प्रत्युत अन्तःकरण मोहित होता है। अन्तःकरणसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण हम कर्ता-भोक्ता बन जाते हैं।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी चीज हमारी नहीं है तो शरीर हमारा कैसे हुआ? अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला हमारा कैसे हुआ? तभी भगवान्‌ने कहा है— **'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'**। गीताके तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ, बत्तीसवाँ तथा तैंतीसवाँ श्लोक, अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक, तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक और पाँचवें अध्यायका आठवाँ

श्लोक*—इन श्लोकोंपर आप एकान्तमें बैठकर विचार करें तो बहुत लाभ होगा। जब स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर मैं हूँ ही नहीं तो फिर कर्ता-भोक्तापन अपनेमें कैसे हुआ? यह बात हमारी-आपकी नहीं है, प्रत्युत गीताकी है! ये गीतामें भगवान्‌के वचन हैं!

दुष्ट-से-दुष्ट, पापी-से-पापी कोई क्यों न हो, सब-के-सब परमात्माके अंश हैं। आप दृढ़तासे इस बातको स्वीकार कर लें कि हम परमात्माके अंश हैं। परमात्मा हमारे हैं, संसार हमारा नहीं है प्रत्येक आदमी अपने पिताका होते हुए ही सब कार्य करता है। कोई चाहे रेलवेमें काम करे, चाहे बैंकमें काम करे, चाहे खेतमें काम करे, वह पिताका होते हुए ही सब काम करता है। ऐसे ही हम कोई भी काम करें, परमपिता परमात्माके होते हुए ही करते हैं। काम करते समय हम दूसरेके नहीं हो जाते।

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥
(गीता १३। ३१—३३)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८। १७)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
(गीता ३। २७)

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
(गीता ५। ८)

जैसे हम मकानमें बैठे हुए भी मकानमें नहीं हैं, चट छोड़कर चल देते हैं, ऐसे ही शरीरमें रहते हुए भी हम शरीरमें नहीं हैं, हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। इस बातको केवल मानना है, स्वीकार करना है। इसके लिये पढ़ाईकी जरूरत नहीं है। इसको सभी भाई-बहन स्वीकार कर सकते हैं कि हम भगवान्‌के अंश हैं, हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। प्रकृतिका विभाग अलग है और चेतनका विभाग अलग है। कर्तापन-भोक्तापन प्रकृति-विभागमें है और '**न करोति न लिप्यते**' चेतन-विभागमें है। पहलेके अभ्यासके कारण भले ही अभी इसका अनुभव न हो, पर वास्तवमें बात ऐसी ही है। हम बिलकुल निर्लेप हैं। मुक्ति होती नहीं है, मुक्ति है। केवल अनुभव करना है। गीतामें आया है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

(४। ३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

विवेक, वैराग्य, मुमुक्षा आदि होना तो दूर रहा, सब पापियोंसे भी अधिक पापी हो तो वह भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है! '**न करोति न लिप्यते**'का अनुभव कर सकता है! हम चाहे ज्ञानमार्गसे चलें, चाहे भक्तिमार्गसे चलें, सबसे पहले यह स्वीकार कर लें कि 'मैं भगवान्‌का अंश हूँ।' कर्तृत्व और लिप्तता स्वाभाविक ही हमारेमें नहीं हैं। ऐसा विचार करके चुप हो जायँ। इस बातको पक्की कर लें कि वास्तवमें बात ऐसी ही है। इसको हम भूल जायँ तो भी बात ऐसी ही है। भूल अन्तःकरणमें होती

है। हमारेमें भूल होती ही नहीं, हो सकती ही नहीं। हम भले ही सच्ची बातको भूल जायँ और कर्ता-भोक्ता बन जायँ तो भी वास्तवमें हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। आप केवल इतना विचार रखें कि '**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'—यही बात सच्ची है। गलत मान्यता सही मान्यतासे कट जाती है। सही मान्यता करनेमें, सच्ची बातको माननेमें कोई उद्योग, परिश्रम नहीं है।

१२. अक्रियतासे परमात्मप्राप्ति

परमात्मतत्त्व सम्पूर्ण संसारमें समान रीतिसे परिपूर्ण है—'मया ततमिदं सर्वम्' (गीता ९। ४), 'समोऽहं सर्वभूतेषु' (गीता ९। २९)। अगर कोई उसकी प्राप्ति करना चाहे तो वह कुछ भी चिन्तन न करे। जो सर्वव्यापक है, उसका चिन्तन हो ही नहीं सकता। कुछ भी चिन्तन न करनेसे हमारी स्थिति स्वत: परमात्मामें ही होती है। इसलिये परमात्मप्राप्तिका खास साधन है—कुछ भी चिन्तन न करना; न परमात्माका, न संसारका, न और किसीका। साधक जहाँ है, वहीं स्थिर हो जाय; क्योंकि वहीं परमात्मा हैं। क्रिया तो उसके लिये होती है, जो देश, काल, वस्तु आदिकी दृष्टिसे दूर हो। परन्तु जो सब जगह है, सब समय है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओं आदिमें है, उसकी प्राप्तिके लिये क्रियाकी क्या जरूरत?

चुप होना, शान्त होना, कुछ न करना एक बहुत बड़ा साधन है, जिसका पता बहुतोंको नहीं है। कुछ करनेसे संसारकी प्राप्ति होती है और कुछ न करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। संसारका स्वरूप है—क्रिया (श्रम) और परमात्माका स्वरूप है—अक्रिय (विश्राम)। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है, पर अक्रिय-तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है। इतना ही नहीं, उस अक्रिय-तत्त्वसे ही सम्पूर्ण क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन होती

हैं। क्रियासे शक्तिका ह्रास होता है और अक्रिय होनेसे शक्तिका संचय होता है। इसलिये साधक प्रत्येक क्रियासे पहले और क्रियाके अन्तमें शान्त (चिन्तनरहित) हो जाय। पहले शान्त होकर सुनेगा तो सुनी हुई बात विशेष समझमें आयेगी, पढ़ेगा तो पढ़ी हुई बात विशेष समझमें आयेगी। अन्तमें शान्त होनेसे सुनी हुई या पढ़ी हुई बातको धारण करनेकी शक्ति आयेगी। क्रिया करनेसे विषमता आती है और अक्रिय होनेसे समता आती है। इसलिये क्रिया करनेमें दो आदमी भी बराबर नहीं होते, पर कुछ न करनेमें लाखों-करोड़ों आदमी भी एक हो जाते हैं। कोई विद्वान् हो या मूर्ख हो, धनी हो या निर्धन हो, रोगी हो या नीरोग हो, निर्बल हो या बलवान् हो, योग्य हो या अयोग्य हो, कुछ न करनेमें सब एक हो जाते हैं, सबकी स्थिति परमात्मामें हो जाती है। तात्पर्य है कि अगर कुछ भी चिन्तन करेंगे तो संसारमें स्थिति होगी और कुछ भी चिन्तन नहीं करेंगे तो परमात्मामें स्थिति होगी। वास्तवमें हमारी स्थिति स्वतः परमात्मामें ही है, पर चिन्तन करनेसे इसका भान नहीं होता। इसलिये गीतामें भगवान् कहते हैं—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २५)

'धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा संसारसे धीरे-धीरे उपराम हो जाय और मन (बुद्धि)-को परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।'

तात्पर्य है कि सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धृतिके द्वारा क्रिया और पदार्थरूप संसारसे धीरे-धीरे उपराम हो जाय। जल्दबाजी न करे; क्योंकि जल्दबाजी करनेसे साधन बढ़िया नहीं

होता। एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चय करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे। परमात्मा स्वतः-स्वाभाविक सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन हैं। 'घन' का अर्थ होता है—ठोस। जैसे, पत्थर या काँच ठोस होता है, इसलिये उसमें सुई नहीं चुभती। परन्तु परमात्मा पत्थर या काँचसे भी ज्यादा ठोस हैं। कारण कि पत्थर या काँचमें तो अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, पर परमात्मामें कोई भी वस्तु प्रविष्ट नहीं हो सकती। ऐसे सर्वथा ठोस परमात्माका साधक चिन्तन करता है तो उलटे उनसे दूर होता है! इसलिये वह जहाँ है, वहीं (निद्रा-आलस्य छोड़कर) बाहर-भीतरसे चुप, शान्त रहनेका स्वभाव बना ले। यह बहुत सुगम और बहुत बढ़िया साधन है। इससे बहुत शान्ति मिलेगी और सब पाप-ताप नष्ट हो जायँगे।

उपराम होनेका तात्पर्य है कि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व न हों। जैसे रास्तेमें चल रहे हैं तो कहीं पत्थर पड़ा है, कहीं लकड़ी पड़ी है, कहीं कागज पड़ा है, पर अपना उससे कोई मतलब नहीं होता, ऐसे ही किसी भी क्रिया और पदार्थसे अपना कोई मतलब नहीं रहे—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३। १८)। उनसे तटस्थ रहे। तटस्थ रहना भी एक विद्या है। साधक तटस्थ रहते हुए सब काम करे तो वह संसारसे असंग हो जाता है। संसारमें लाभ हो, हानि हो, आदर हो, निरादर हो, सुख हो, दुःख हो, प्रशंसा हो, निन्दा हो, उसमें तटस्थ रहे तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अगर वह उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख कर लेगा तो भोग होगा, योग नहीं। भोगीका कल्याण नहीं होता। इसलिये तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार॥

(दोहावली ९४)

गीतामें आया है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

(गीता ६। ३)

'जो योग (समता)-में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण कहा गया है और उसी योगारूढ़ मनुष्यका शम (शान्ति) परमात्मप्राप्तिमें कारण कहा गया है।'

शम (शान्ति)-का अर्थ है—कुछ न करना। जबतक 'करने' के साथ सम्बन्ध है, तबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है और जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक अशान्ति है, दुःख है, जन्म-मरण है। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध 'न करने' से मिटेगा। कारण कि क्रिया और पदार्थ दोनों प्रकृतिके हैं। चेतन-तत्त्वमें न क्रिया है, न पदार्थ। क्रिया अनित्य है, अक्रियपना नित्य है। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है, पर अक्रियपना नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। इसलिये परमात्मप्राप्तिके लिये 'शम' अर्थात् कुछ न करना ही कारण है। हाँ, अगर इस शान्तिका उपभोग किया जायगा तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। 'मैं शान्त हूँ'—इस प्रकार शान्तिमें अहंकार लगानेसे और 'बड़ी शान्ति है'—इस प्रकार शान्तिमें राजी होनेसे शान्तिका उपभोग हो जाता है। इसलिये शान्तिमें व्यक्तित्व न मिलाये, प्रत्युत ऐसा समझे कि शान्ति स्वतः है। शान्तिका उपभोग करनेसे शान्ति नहीं रहेगी,

प्रत्युत चञ्चलता आ जायगी अथवा नींद आ जायगी। उपभोग नहीं करनेसे शान्ति स्वतः रहेगी। बिना क्रिया और बिना अभिमानके जो स्वतः शान्ति होती है, वह 'योग' है। कारण कि उस शान्तिका कोई कर्ता या भोक्ता नहीं है। जहाँ कर्ता या भोक्ता होता है, वहाँ भोग होता है। भोग होनेपर संसारमें स्थिति होती है।

सम्पूर्ण क्रियाएँ और पदार्थ संसारके और संसारके लिये ही हैं। इसलिये कर्मयोगी इनको अपने और अपने लिये न मानकर संसारकी ही सेवामें लगा देता है। सेवामें लगानेसे उसका क्रिया और पदार्थरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। प्रकृति श्रमरूप है और परमात्मतत्त्व विश्रामरूप है। इसलिये ज्ञानयोगी क्रिया और पदार्थसे असंग होकर विश्रामको स्वीकार करता है। विश्रामको स्वीकार करनेका तात्पर्य है—अपना जो चिन्मय सत्तामात्र स्वरूप है, उसमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव करना। परन्तु भक्तियोगी भगवदाश्रयको स्वीकार करता है अर्थात् अपना चिन्मय सत्तामात्र स्वरूप भी जिसका अंश है, उस भगवान्‌के आश्रयको स्वीकार करता है। सेवा और विश्रामसे मुक्ति होती है तथा भगवदाश्रयसे प्रेमकी प्राप्ति होती है।

यह एक सिद्धान्त है कि जो सर्वव्यापक तत्त्व होता है, उसकी प्राप्ति किसी क्रियासे नहीं होती। क्रिया करते ही हम उससे अलग होते हैं। अगर हम कुछ भी क्रिया नहीं करेंगे तो उस परमात्मतत्त्वमें ही स्थिति होगी। इसलिये साधक चलते-फिरते, उठते-बैठते हरदम शान्त रहनेका स्वभाव बना ले।